



# योग : स्वरूप और साधना

एक सर्वांगीण विवेचन

□ डा० ए० डी० बतरा

एम.ए., पी-एच.डी., डी.वाय.पी.

भारतीय दर्शन में 'योग' शब्द का प्रयोग 'साधना-विशेष' के अर्थ में प्रयुक्त है। मूलतः 'योगी' साधक ही होता है और यह साधना किसी धर्म-सम्प्रदाय के कर्मकाण्ड की तरह नहीं होती; बल्कि आधुनिक युग के विज्ञान की भाँति प्रयोगात्मक होती है। दर्शनशास्त्र या धर्मशास्त्र की तरह सिद्धान्त प्रतिपादित करना योग का कार्य नहीं है, इसमें तो दीर्घकाल तक धैर्यपूर्वक प्रयोग करके निष्कर्ष निकालने पड़ते हैं।

साधकों के प्रयोगात्मक वर्गीकरण के कारण ही सम्भवतः योग में विभिन्न प्रकार के प्रवाह प्रचलित हुए हैं; जैसे—मंत्रयोग, भक्तियोग, लययोग, शिवयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, कुंडलिनीयोग इत्यादि। इन योगों से सम्बन्धित कुछ साहित्य भी आधुनिक युग में प्राप्त होता है। यहाँ हमारा विवेचन, पतंजलि के योगसूत्र; हठयोग सम्बन्धी साहित्य, और योग उपनिषद् में व्यक्त विचारों तक ही सीमित है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में योग की प्राचीन परम्परा उपलब्ध है। परन्तु यहाँ पर योग का ऐतिहासिक विकास प्रस्तुत करना हमारा लक्ष्य नहीं है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि योग को प्रयोग द्वारा ही समझना है तो कोई भी उपलब्ध साहित्य सहायक हो सकता है, उसके ऐतिहासिक विकास-विवेचन की आवश्यकता नहीं।

प्रायोगिक दृष्टि से, योग को सर्वसाधारण तक पहुँचाने का प्रयत्न सम्भवतः कभी नहीं हुआ। योग-अभ्यासी साधक अपने गुरु के सान्निध्य में रहकर, प्रत्यक्ष मार्गदर्शन में साधना करते रहे। प्राचीन भारत की समाज रचना के अनुसार यह 'साधना' उचित थी। परन्तु आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से प्रभावित भारतीय समाज रचना के कारण, कभी-कभी योग और योग-साधक को समझने में भ्रम भी उत्पन्न हुए हैं। योग साहित्य की क्लिष्ट भाषा, प्रयोगकर्ताओं की अनुपलब्धि और कुछ लोगों द्वारा योग को सर्वसाधारण तक पहुँचाने का प्रयत्न आदि कारणों ने भी योग सम्बन्धी कुछ भ्रम खड़े कर दिये हैं। किन्तु भ्रमात्मक धारणाओं के होते हुए भी, भारत में और अन्य देशों में भी, योग सम्बन्धी साहित्य; योग का अभ्यास करने वाले साधक और योग पर प्रयोग करने वाले वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिक प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। यह एक अलग बात है कि इनमें से सही दिशा में काम करने वाले साधक अथवा प्रयोगकर्ता कितने हैं।

अध्यात्म और रहस्यवाद के साथ योग का सम्बन्ध स्थापित करना भी आधुनिक युग की एक नयी प्रवृत्ति है। इसके कारण योग सम्बन्धी कुछ धारणायें तो स्पष्ट हुई हैं परन्तु कुछ और नये भ्रम खड़े कर दिये गये हैं। वास्तव में योग को प्रायोगिक अभ्यास के द्वारा न समझते हुए, सिर्फ भाषा-साहित्य के द्वारा समझने का जब भी प्रयत्न होगा, तब ऐसे भ्रम खड़े होना स्वाभाविक है। योग सम्बन्धी अधिकृत साहित्य बहुत सीमित है; परन्तु टीकायें, भाष्य और व्यावसायिक लेखकों द्वारा लिखित सस्ती पुस्तकों की कमी नहीं है। पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली की 'तुलनात्मक अध्ययन' प्रवृत्ति के अनुकरण पर, योग-साहित्य का भी तुलनात्मक अध्ययन प्रकाश में आया है। इस प्रवृत्ति के अनुसार, योग तथा मनोविज्ञान; योग-मनोविश्लेषण; योग और यौगिक चिकित्सा पद्धति; योग तथा शरीर विश्रान्ति; योग और आयुर्वेद; योग और गीता; योग और महाभारत, इत्यादि अनेक सीमित दृष्टिकोणों से योग-साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत हुआ है और हो रहा है। परिणामतः योग-साहित्य का विकास तो हुआ है परन्तु योग-साधना करने वाले सच्चे अभ्यासियों की संख्या अत्यल्प है। योग-साहित्य की नयी अध्ययन-शैली की आलोचना करना हमारा उद्देश्य नहीं है, परन्तु सच्चाई यह है कि साहित्य से ही मनःशान्ति प्राप्त करने की भावना 'योग-अभ्यास' के लिए घातक सिद्ध हुई है।





मानव और मानव-समाज अन्योन्याश्रित हैं। परन्तु मानव-समाज के संगठन की प्रक्रिया इतनी जटिल हो गयी है कि उससे मानव जीवन में अनेक समस्यायें गुणात्मक रूप में विकसित होती जा रही हैं। आज के कुछ विचारक बड़ी तीव्रता से यह अनुभव करते हैं कि आधुनिक युग में समाज प्रबल होता जा रहा है और 'व्यक्ति' का अस्तित्व खोता जा रहा है। यदि हमें व्यक्ति और समाज के सन्तुलन को बनाये रखना है तो व्यक्ति के 'व्यक्तित्व-विकास' की ओर अधिक ध्यान देना होगा, जिसकी अपेक्षाकृत उपेक्षा होती रही है। अष्टांग योग में व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक विकास के साथ-साथ समाज-संगठन का समन्वयात्मक दृष्टिकोण भी स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है। व्यक्ति के शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक पहलुओं को दृष्टि में रखकर ही, अष्टांग योग में 'यम', 'नियम' आदि का प्रतिपादन किया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के साथ-साथ शौच, संतोष, तपः, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इन्हीं पहलुओं की ओर समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

कुछ प्राचीन ग्रन्थों में योग-चर्चा के अन्तर्गत दी गयी कुछ विशेष शब्दावली पर, हम यहाँ विचार करना चाहते हैं। भगवद्गीता में 'युक्त आहार-विहार'<sup>१</sup> का उल्लेख किया गया है। हठयोग के साहित्य में 'मिताहार' और योगी के विहार करने के स्थान पर "सुराज्य" का उल्लेख है। पतंजलि ने भी अहिंसा, शौच आदि पर सिर्फ एक-एक सूत्र लिखकर ही समाधान मान लिया है। वास्तव में इस शब्दावली को आधुनिक युग के वैज्ञानिक और गणितीय स्तर पर व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। कारण स्पष्ट है, प्रत्येक व्यक्ति का आहार अत्यन्त व्यक्तिगत (निजी) रूप में होता है और इसी प्रकार निद्रा, शुचिता एवं कार्य करने की क्षमता आदि का निर्णय भी व्यक्ति स्वयं ही कर सकता है। हमारे विचार से, इन शास्त्रकारों ने अष्टांग योग के द्वारा व्यक्ति को स्वयं विचार करने के लिए प्रेरित किया है। जो व्यक्ति इस सम्बन्ध में स्वयं विचार नहीं कर सकता उसे गुरु या शास्त्र-ग्रन्थ कुछ विशेष सहायता नहीं पहुँचा सकते। व्यक्ति की अपनी निजी क्षमता के अभाव में, गुरु अथवा ग्रन्थ अत्यन्त मर्यादित रूप में ही सहायक हो सकते हैं। साधना-मार्ग में साधक को अपना उत्तरदायित्व अपने आप ही समझना पड़ता है। इसलिए युक्ताहार, मिताहार, अल्पाहार, प्रजल्प, जनसंग, स्थैर्य, चित्त विश्रान्ति, आत्माध्यायी, दिव्य-दृष्टि, ध्रुवगति, कंठकूप इत्यादि शब्दों के सर्वजनीन अर्थ निश्चित नहीं किये जा सकते। इनके अर्थ साधना-मार्ग के व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर निर्भर हैं। यदि शरीर या मन में विकार या व्याधियाँ आती हैं तो उसका कारण गुरु या समाज नहीं है, इस सम्बन्ध में साधक को स्वयं विचार करना चाहिए। आध्यात्मिक-साधना के मार्ग-दर्शन में शब्द के ठीक-ठीक अर्थ समझना-समझाना एक कठिन समस्या है, जिसे सार्वजनिक रूप से सुलझाना दुष्कर कार्य है।

अष्टांग योग की प्रक्रिया में आसन और प्राणायाम का भी महत्वपूर्ण स्थान है। आज सारी दुनियाँ में आसन-प्राणायाम का प्रचार 'फैशन' बन गया है। शारीरिक-शिक्षण के क्षेत्र में भी योग-आसनों का समावेशन किया जा रहा है। 'योगिक-व्यायाम' नाम से ग्रन्थ भी प्रकाशित हो रहे हैं। रोग-निवारण के लिए भी आसन-प्राणायाम का प्रचार-प्रसार हो रहा है। 'योग चिकित्सा पद्धति' अब सरकारी मान्यता प्राप्त कर रही है। इस सम्बन्ध में भी साहित्य लिखा जा रहा है। परन्तु हमारे विचार से ये सारे प्रयास अधूरे और भ्रामक हैं। आसन-प्राणायाम के इस प्रकार के प्रचार-प्रसार से अधिकांश लोगों ने यह समझ लिया है कि आसन-प्राणायाम ही 'योग' है। वस्तुतः आसन-प्राणायाम को ही 'योग' समझ लेना एक बड़ी भ्रान्ति है। शारीरिक-शिक्षण और रोग-निवारण के लिए इनका प्रयोग करना कोई बुरी बात नहीं; परन्तु यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि आसन-प्राणायाम 'व्यायाम' मात्र नहीं है। इनके संयोजन का उद्देश्य, 'शरीर' तक ही सीमित नहीं; बल्कि इनका उद्देश्य, एक ओर मनुष्य की सामाजिक पवित्रता बनाये रखना है तो दूसरी ओर व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति के लिए आधार तैयार करना है। परन्तु ये उद्देश्य तभी साध्य हो सकते हैं जब आसन-प्राणायाम का अभ्यास, यम-नियम के पालन करते हुए किया जायेगा। आसन-प्राणायाम का उद्देश्य भौतिक भोग-विलास की अभिवृद्धि करना नहीं है। दुर्भाग्य से अधिकांश लोग इन्द्रिय-भोग विलास के लिए ही आसन-प्राणायाम का अभ्यास करते हैं। इससे उनका व्यक्तिगत उद्देश्य कितना साध्य होता है, यह तो वही समझें, किन्तु इसके द्वारा 'योग' के नाम पर 'सामाजिक-शोषण' का एक और आयाम विकसित हो रहा है। साथ ही 'योग' जैसी सर्वांगपूर्ण जीवन पद्धति की छीछलेदार होती है, यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

आसन और प्राणायाम के प्रभाव के सम्बन्ध में प्राचीन साहित्य के अन्तर्गत कुछ विशेष संकेत प्राप्त होते हैं। जैसे भूख और प्यास पर नियन्त्रण होना; दिव्य दृष्टि प्राप्त करना; निद्रा-आलस्य और वात-पित्त, कफ आदि दोषों

से मुक्ति प्राप्त करना, बहुत ही सहज बताया गया है। इन संकेतों के सम्बन्ध में आधुनिक युग में दो प्रकार के मत हैं। एक वर्ग यह मानता है कि ये सभी बातें साहित्यिक अतिशयोक्तियाँ हैं; वस्तुतः इनमें कोई तथ्य नहीं है। दूसरा मत यह है कि पूर्वजों ने जो बातें कहीं हैं वे अक्षरशः सत्य हैं, उनमें कोई शंका नहीं करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि इस प्रकार के संकेतों को 'त्याग' अथवा 'ग्रहण' करने से पूर्व, बौद्धिक विवाद में न पड़ते हुए, उन्हें प्रायोगिक कसौटी पर कसना चाहिए। आज विश्व में करोड़ों लोग आसन-प्राणायाम का उपयोग करते हैं। परन्तु प्रयोगात्मक सिद्धान्त के लिए किसी एक आसन को तीन साल, छः साल, नौ साल, बारह साल तक एक घंटा, दो घंटे, तीन घंटे नियमित रूप से करने वाले कितने लोग हैं? जबकि हठयोग साहित्य में इस प्रकार के काल और अभ्यास का स्पष्ट निर्देश है।<sup>२</sup> हठयोग के इस प्रभाव की जाँच-पड़ताल के लिए कई स्थानों पर वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं की स्थापना हुई है और जहाँ तक प्रामाणिक रूप से योग अभ्यासी उपलब्ध हुए हैं वहाँ तक योग सिद्धान्तों की पुष्टि में कोई अड़चन उत्पन्न नहीं हुई है। परन्तु जहाँ पर्याप्त और अनुकूल साधक ही उपलब्ध नहीं हैं, वहाँ प्रयोग अधूरे पड़े हुए हैं। अधूरे प्रयोगों के निष्कर्ष तो त्रुटिपूर्ण ही होंगे या भ्रान्तियाँ निर्माण करेंगे।

हठयोग में शोधन क्रियाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। वास्तव में शोधन क्रियाओं के बाद ही आसन तथा प्राणायाम करने का निर्देश है। स्थूल रूप से शोधन क्रियायें शरीर की तत्कालीन अनियमितताओं से मुक्ति कराने के लिए हैं। परन्तु वास्तव में इनका प्रभाव बड़ी सूक्ष्मता के साथ शरीर पर पड़ता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रभाव का आसन-प्राणायामों की तरह ही, वैज्ञानिक रूप से, समायोजन और संशोधन किया जाय। आसन और प्राणायाम की तरह अधिकार के साथ 'शोधन-क्रिया' सिद्ध करने वाले व्यक्ति समाज में क्यों नहीं होने चाहिए?

अष्टांग योग की श्रेणियों में 'प्रत्याहार' के सम्बन्ध में बहुत कम लिखा गया है। वास्तव में प्रत्याहार, अपरिग्रह तथा यम-नियम आदि एक ही दृष्टिकोण के विविध आयाम हैं। परन्तु ये बातें शास्त्रों की शोभा बढ़ाने के लिए नहीं कही गयीं। दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री आदि इस बात को मान्य करते हैं कि मनुष्य के अन्तर्मन में ये जीवन मूल्य निहित हैं अर्थात् मनुष्य स्वभावतः अहिंसक, सत्यभाषी, ब्रह्मचारी, आदि है परन्तु सामाजिक वातावरण और परिस्थितियों के कारण वह हिंसा, असत्यता आदि सीखता है। तर्कशास्त्र के अनुसार जो बातें सीखी जा सकती हैं वे भुलाई भी जा सकती हैं। प्रत्याहारमय जीवन जीने वाले कुछ आदर्श व्यक्ति प्रत्येक समाज में होते आये हैं, जिन्हें हम ऋषि, मुनि, पीर, फकीर, सेंट, मोंक, भिक्षु, आदि कहते हैं। ये व्यक्ति अपने-अपने समाजों के लिए प्रेरणास्रोत रहे हैं। परन्तु जब ये व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करें तो शास्त्रों का दोष नहीं है। समाज में आज एक ऐसा वर्ग भी है जो किसी सम्प्रदाय या शास्त्र को नहीं मानता है परन्तु आधारभूत नैतिक मूल्यों की आवश्यकता को वह चरम सीमा तक स्वीकार करता है। आज ऐसे वर्ग की आवश्यकता भी है कि जो साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर जीवन मूल्यों को स्वीकार करे। वास्तव में आज के सामाजिक जीवन में कृत्रिमता इस हद तक घर कर गयी है कि प्रत्याहारमय जीवन ही अप्राकृतिक और अत्यन्त कठिन लगता है। परन्तु सत्य यह है कि प्रत्याहारमय जीवन ही मानव का स्वाभाविक जीवन है। इस स्वाभाविक जीवन की अधिक चर्चा नहीं की जा सकती।

अष्टांग योग में, यम-नियम, आसन-प्राणायाम और प्रत्याहार को 'बहिरंग योग' तथा धारणा, ध्यान और समाधि को 'अंतरंग योग' के नाम से अभिहित किया जाता है। 'बहिरंग-योग' पर चित्रों से भरी हुई अनेक पुस्तकें बाजार में उपलब्ध हैं। आसन-प्राणायाम की कुछ क्रियायें चर्म चक्षुओं से दिखाई देती हैं और उनके चित्र बनाये जा सकते हैं। परन्तु यम-नियम, प्रत्याहार और आसन-प्राणायाम की सूक्ष्म क्रियाओं और प्रभावों के चित्र निर्माण करना क्या सम्भव है? इसी प्रकार धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन करना और चित्रों से समझाना असम्भव ही है। परन्तु ऐसी भी पुस्तकें दिखायी देती हैं जिनमें 'समाधिस्थ' साधक के चित्र दिये गये हैं। सोये हुए अथवा मरे हुए तथा समाधिस्थ आदमी के चित्रों में कोई अन्तर नहीं होता। पता नहीं इस प्रकार के चित्र देकर, लेखकगण किस प्रकार योग-साधना समझाना चाहते हैं?

योग की दार्शनिक शब्दावली के स्पष्टीकरण की भी एक समस्या है। पुरुष, प्रकृति, गुण, चित्त, मन, बुद्धि, अहंकार, सविकल्प-निर्विकल्प समाधि, सप्तधा, प्रान्तभूमि, धर्ममेघ समाधि, कैवल्य, पुरुषार्थ, शून्य, प्रतिप्रश्न, आदि अनेक शब्दों का प्रयोग शास्त्रों में मिलता है। हठयोग में खेचरी, बज्जोली, सहजोली, अमरोली, चंडी, रण्डी,



गोमांस, राधा, आदि अनेक शब्दों का उल्लेख किया गया है। योग-साधक मनीषियों से अपेक्षा है कि वे इन शब्दों के रहस्यों का उद्घाटन करें। इनमें से कुछ शब्द श्लेषात्मक हैं और कुछ दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। कुछ शब्दों का अर्थ सांख्य और वेदान्त से जोड़ा जाता है। किन्तु फिर भी ये शब्द विवादास्पद हैं। परन्तु हमारा विचार यह है कि इस शब्दावली को समझे बिना भी योग अभ्यास किया जा सकता है। साधना करने में यह शब्दावली कोई बाधा उपस्थित नहीं करती।

योगशास्त्र में धारणा, ध्यान और समाधि को 'संयम' नाम से सम्बोधित किया गया है<sup>3</sup> और बताया है कि संयम से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। भारतीय दर्शन में सिद्धियों का वर्णन एक मोह का विषय बना हुआ है। सिद्धियाँ प्राप्त करने तथा सिद्धियाँ प्राप्त व्यक्तियों की ओर, लोग दीवानों की तरह आकृष्ट होते हैं। सिद्धि आकांक्षा ने मनुष्य के एक विकृत आयाम को प्रस्तुत किया है; इसके कारण योग के सम्बन्ध में भ्रम और गलत धारणायें प्रचुर मात्रा में फैली हुई हैं। इस विवादास्पद विषय पर यहाँ हम विचार नहीं करना चाहते। परन्तु 'योगसूत्र' के अन्तर्गत, सिद्धियों के वर्णन क्रम में प्राप्त 'मैत्र्यादिषुबलानि' नामक सूत्र की ओर, हम, सुधीजनों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

योगाचार्य 'मैत्री' को सिद्धि मानते हैं। सिद्धि एक बहुत बड़ा 'बल' है तथा सिद्धियाँ 'संयम' से प्राप्त होती हैं। दूसरे शब्दों में, सिद्धि प्राप्त करने के लिए मनुष्य को एक प्रकार का नियंत्रित जीवन जीने की नितान्त आवश्यकता है, जिसमें लौकिक तथा अलौकिक किसी भी तथाकथित योग्यता की आवश्यकता नहीं है। हठयोग साहित्य में 'सुराज्य' तथा 'सुधामिक' और योग में मैत्री, कष्टना, उपेक्षा आदि शब्दों का उल्लेख भी मनुष्य-जीवन के उस आयाम की ओर संकेत करता है जिसमें शान्तिमय जीवन की व्यवस्था हो। इस प्रकार की व्यवस्था में मानसिक वृत्तियों को एक दिशा प्रदान करने में अधिक सुविधा अथवा सरलता होती है। इस प्रकार का नियन्त्रित या संयमित जीवन स्वस्थ-समाज की अभिवृद्धि और योग अभ्यास का पोषण करता है। परन्तु इस प्रकार का सुरक्षित वातावरण कौन निर्माण करे? हमारी दृष्टि से, अप्रत्यक्ष रूप में यह उत्तरदायित्व योगाभ्यासी का ही है।

अष्टांग योग के सम्बन्ध में एक समझ यह मानी जाती है कि योग के आठों 'सोपान' अलग-अलग हैं और एक के सिद्ध होने पर दूसरे का अभ्यास करना चाहिए। हमारी दृष्टि में यह विचार एक भ्रांति है। वास्तव में योग के आठों अंग समान्तर रूप से साथ-साथ चलते हैं। यम, नियम के साथ-साथ आसन-प्राणायाम, ध्यान, धारणा आदि का अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिए। यद्यपि हठयोग में आसन सिद्धि का वर्णन है; परन्तु इसका अर्थ सिर्फ इतना ही है कि योग अभ्यास की आकांक्षा रखने वाले व्यक्ति को कुछ निश्चित समय तक स्थिर बैठने की क्षमता आनी चाहिए। प्राणायाम आदि के सम्बन्ध में भी इसी नियम का अवलम्बन लेना चाहिए। इसलिए योग अभ्यास की आकांक्षा होते ही पूर्ण अष्टांग योग की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है; उसके किसी एक अंग के पूर्ण होने का प्रश्न नहीं उठता। सम्भव है कि परम्परावादियों को यह विचार पसन्द न आये। परन्तु यहाँ हम 'योगसूत्र' ४/१ के उस वर्णन की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जिसमें यह बताया गया है कि सिद्धियाँ न सिर्फ समाधि से ही प्राप्त होती हैं बल्कि कुछ लोगों को जन्म से, कुछ लोगों को मन्त्र से और कुछ लोगों को तप से भी सिद्धियाँ मिलती हैं। परम्परावादियों के अनुसार, अष्टांग योग की कठोर नियन्त्रणा से उपलब्ध 'समाधि' के द्वारा ही सिद्धियाँ मिलनी चाहिए।

योग एक निश्चित दृष्टिकोण की ओर जाने वाला मार्ग है। उस मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति पर, मर्यादित रूप में, कुछ नियन्त्रण लगाया जा सकता है। हमारी दृष्टि से यह नियन्त्रण जितना 'सहज' होगा साधना उतनी ही सुफलदायक होगी। सम्भवतः इसलिए ही शास्त्रों में 'अजपा जप' और 'सहज प्राणायाम' का उल्लेख किया गया है। यह इस बात का भी द्योतक है कि जीवन बहुत ही 'सहज' है और यदि उसे कृत्रिमताओं से अलग रखा जाय तो वह अत्यन्त आनन्ददायक है। अष्टांग योग की कठोर परम्परा हमें मान्य है, परन्तु इसका अर्थ साधक को मशीन या 'जीव-मात्र' नहीं मान लेना चाहिए। साधक एक चैतन्य-प्राणी है जो अपने मार्ग के बारे में सद्-असद् का विवेक रखता है। जीवन व्यवहार को इस मार्ग पर लगाने के बाद, यदि ध्येय स्पष्ट है तो, परम्परावादियों को, उसे थोड़ी स्वतन्त्रता देना बहुत आवश्यक है, क्योंकि इस स्तर तक आने वाला साधक उच्छृंखल नहीं होगा, यह स्पष्ट है।

योग की साधना मानव समाज के कृत्रिम विभेदों से अप्रभावित है। इसके प्रयोग सर्वजनीन और सर्वकालिक हैं जहाँ किसी भी अवस्था, लिंग, जाति, अथवा देश-प्रदेश का कोई बन्धन नहीं है। योग मानव मात्र की उपलब्धि है।

इस उपलब्धि का लाभ करना तथा कराना उत्तरदायित्व का काम है। इस उत्तरदायित्व को कौन वहन करे ? भारत में एक बहुत बड़ा समाज ऐसा है जिसे समाज ने आर्थिक-सामाजिक चिंताओं से मुक्त किया हुआ है और जिन्हें भारतीय योग की परम्परा मान्य है। यहाँ हमारा संकेत भारत भर के अनेक सम्प्रदायों में बिखरे हुए उन साधु-संन्यासियों की ओर है; जिन्होंने विचारपूर्वक यम-नियम के मार्ग पर चलने का व्रत लिया है। यम-नियम आदि की सूक्ष्म प्रक्रियायें उनके जीवन की हर गतिविधि में परिलक्षित होनी चाहिए। इन लोगों को आगे आकर उन लोगों की सहायता करनी चाहिए जो 'योग' को 'वैज्ञानिक कसौटी' पर परख कर, आधुनिक-जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार, उसका पुन-मूल्यांकन करना चाहते हैं। आधुनिक युग के जीवन की गतिशीलता और व्यस्तता को ध्यान में रखकर उसका पुनर्मूल्यांकन होना नितान्त आवश्यक है। गुरु-शिष्य परम्परा की प्राचीन समाज के अनुकूल कठोर परिपाटी को आज ज्यों का त्यों अपनाने से 'गुरुडम' ही अधिक विकसित हुआ है जिससे योग की सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

बहुत ही संक्षेप में मैंने योग के कुछ दृष्टिकोण पर चिन्तन प्रस्तुत किया है। आशा है विज्ञाण इस पर चिन्तन करेंगे।

★★★

## योग में विभिन्न परम्पराएँ

भारतीय दार्शनिक परम्परा में योग का महत्त्व इसलिए है कि इसमें एक जीवन प्रणाली का क्रमबद्ध स्वरूप उपलब्ध है। आजकल विश्व में सम्भवतः योग ही सर्वाधिक चर्चित विषय है। 'yogic way of living' को आधार रखकर लोगों ने इतने विचित्र आयाम सामने रखे हैं कि योग के सही रूप के बारे में भ्रम पैदा कर दिया है। इस समय योग प्रचार और योग के नाम से होने वाला आसन अभ्यास एक फैशन के रूप में प्रचलित हो रहा है और योग का उपयोग शरीर की सुदृढ़ता और रोग-निवारण के लिए बहुत ही अधिकृत रूप में किया जा रहा है। क्या योग शरीर तक ही मर्यादित है ? क्या योग रोग-निवारण के लिए ही विकसित हुआ होगा ? योग के विषय में इतने भ्रम क्यों पैदा हुए ? योग के भिन्न-भिन्न आयाम कौन से हैं ? इस विषय पर कुछ विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

योग सम्बन्धी क्रमागत विचार पतंजलि के योग-सूत्रों में उपलब्ध हैं। योगदर्शन का षड्दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त योग शब्द के साथ ध्वनित होने वाले बहुत सारे योग के ही आयाम अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व प्रस्थापित करने में सफल हुए हैं। आज हमें हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग, लययोग के अतिरिक्त कर्मयोग, भक्तियोग, क्रियायोग, कुंडलिनीयोग इत्यादि के नाम से विपुल मात्रा में साहित्य उपलब्ध है और श्रद्धा तथा भक्ति के साथ इसका प्रचार करने वाले तथा पालन करने वाले भी मिलते हैं। इनके अतिरिक्त विदेशों में तो योग के नाम से ऐसी शब्दावली तैयार हो गयी है कि भारतीय योग परम्परा के प्रेमियों को भी संभ्रम और आश्चर्य होता है।<sup>1\*</sup> उदाहरण के लिए योग के साथ जोड़े गये कुछ शब्द इस प्रकार हैं—Centre for Applied Yoga, Integral Yoga Centre, Kripalu Yoga Centre, Shri Gurudev Siddha Yoga Ashram, Rajayoga Centre, Sodhana Yoga Centre, Santosh Yoga Centre, Shanti Studio of Yoga, Yoga Gestalt Studio, Yoga Synthesis : Inner Awareness, Yoga Therapy Centre, Integral Yoga Institute, Christa Nomdo Ashram for Yoga and Meditation, The American Institute of Yoga, International School of Yoga and Vedanta Philosophy, Temple of Kriya Yoga, Babaji Yoga Sangam, East-West Yoga Centre, The Yoga Academic Foundation, Yoga Seminary of New York, Agniyogo Society, Yoga Guild of America, Light of Yoga Society, Yoga and Health Centre, Yogananda Ashram Society, Yoga Fitness Centre etc.

पतंजलि ने अपने सूत्रों में "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इस प्रकार योग की परिभाषा दी है। भाष्यकार व्यास ने "योगः समाधिः" ऐसी व्याख्या की है। विज्ञानभिक्षु ने अपने ग्रन्थ योगसारसंग्रह में योग की परिभाषा "सम्यक् प्रज्ञायते" इस प्रकार की है। याज्ञवल्क्य ने योग की परिभाषा "संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो" इन शब्दों में



की है। विष्णुपुराण में योग की परिभाषा एक विशेष प्रकार से की गई है—“आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।” हठयोग साहित्य में भी कुछ इसी प्रकार के शब्दों द्वारा योग को परिभाषित किया गया है।

पतंजलि ने योग की एक परिभाषा “यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि” इस प्रकार भी की है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो एक दूसरी भी परिभाषा योगसूत्रों में उपलब्ध है। इस परिभाषा के आधार पर क्रियायोग नामक एक योग प्रचलित हुआ है। वह परिभाषा इस प्रकार है—“तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि।” कुछ लोग “अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः” अथवा “तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः” भी करते हैं। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि पतंजलि के सूत्रों में हमें एक क्रमबद्ध प्रणाली मिलती है।

अष्टांग योग के विषय में बहिरंग और अन्तरंग शब्दों द्वारा आधुनिक योग साहित्य में विश्लेषणात्मक भ्रम निर्माण हो गया है और इस प्रकार का कुछ साहित्य भी उपलब्ध है। अष्टांग योग के प्रथम पाँच अंगों को कुछ लोगों ने बहिरंग योग के स्वरूप में लिया है और धारणा, ध्यान, समाधि को अन्तरंग योग के नाम से प्रचलित किया है। वास्तव में योग की सारी प्रक्रिया चित्तवृत्तिनिरोध के लिए है। और चित्त की व्याख्या न देकर पतंजलि ने उसके कार्य की ओर संकेत किया है। अतः यम और नियम जिनका परिणाम मनुष्य के व्यवहार पर पड़ने वाला है, किस प्रकार बहिरंग हो सकते हैं? उसी प्रकार आसन और प्राणायाम करते हुए लोग यद्यपि हमें दिखते हैं, तो भी उनका परिणाम क्या सिर्फ शरीर पर ही होता है? प्रत्याहार किस प्रकार बाह्य क्रिया हो सकती है? वास्तव में इन शब्दों को समझने में थोड़ा-सा भ्रम हो गया है और शाब्दिक भ्रम के कारण कुछ लोग इस प्रकार की व्याख्या कर बैठे हैं।

अष्टांग योग को आधारभूत मानकर कुछ अन्य साधना पद्धतियाँ योग के अन्तर्गत समय-समय पर विकसित हुई हैं और मनुष्य स्वभाव की विविधता के अनुरूप आज सब अपना-अपना स्वतन्त्र स्थान प्राप्त कर चुकी हैं।

हठयोग सर्वविदित और बहुश्रुत साधना पद्धति है। हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार योग के अंग इस प्रकार स्वीकार किये गये हैं—आसन, कुम्भक (प्राणायाम), मुद्रा और नाद-अनुसन्धान। हठयोग-प्रदीपिका के ही चौथे उपदेश के अन्त में “समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः” है परन्तु समाधि का विवेचन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। हठयोग का दूसरा प्रमुख ग्रन्थ ‘घेरण्डसंहिता’ है। इसके अनुसार योग के सात अंग बताये गये हैं—षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि। हठयोग के अन्य साहित्य में शिवसंहिता, गोरक्षशतक, सिद्धसिद्धान्त पद्धति आदि में इसका विशेष उल्लेख नहीं है, परन्तु अमृतनाद उपनिषद् में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि योग के ये छः अंग बताये हैं। [छः अंगों का क्रम यहाँ विचारणीय है, साथ ही तर्क नामक अंग अन्यत्र कहीं भी समाविष्ट नहीं किया गया है। इस उपनिषद् को यदि आधार माना जाय तो बहिरंग और अन्तरंग विभाजन करने की इच्छा के लिए एक नयी समस्या खड़ी हो जायेगी। परम्परागत धारणा, ध्यान और समाधिक्रम उपनिषद्कार को मान्य प्रतीत नहीं होता। इस क्रम में प्रत्याहार और प्राणायाम के मध्य में ध्यान को रखा गया है और सम्भवतः यहाँ पर ध्यान का अर्थ कुछ भिन्न भी हो सकता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात ध्यान के बाद धारणा को रखना है। यह एक चिन्तन और मनन का विषय है।]

तेजबिन्दु उपनिषद् में योग के पन्द्रह अंग दिखाये हैं—

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः।

आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ॥१५॥

प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।

आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यांगानि वै क्रमात् ॥१६॥

सम्भवतः योग अंगों की यह विस्तृत सूची है। परम्परागत अष्टांग योग इसमें निश्चित क्रम के अनुसार ही मान्य है। सम्भवतः उपनिषद्कार ने कुछ विश्लेषण साधुओं की सुविधा के लिए कर दिया है। दर्शन उपनिषद् में अष्टांग योग तथाक्रम मान्य किया है। यहाँ हमें एक नयी चीज यम और नियमों के विस्तार सम्बन्धी दिखती है। पतंजलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ऐसे पाँच यम बताये हैं। दर्शन उपनिषद् में दस यम इस प्रकार बताये गये हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) दया, (६) आर्जव, (७) क्षमा, (८) धृति, (९) मिताहार, (१०) शौच। पतंजलि के अनुसार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान पाँच नियम हैं। दर्शन उपनिषद् के अनुसार दस नियम ये हैं—

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।

सिद्धान्तश्रवणं चैव हीर्मतिश्च जपो व्रतम् ॥१॥

यम और नियमों के इस विवरण में यदि पतंजलि को आधार माना जाय तो अन्तर्गत विवरण में थोड़ा-सा भेद ध्यान में आता है। उपनिषद्कार ने शौच को यम के अन्तर्गत लिया है और कुछ अन्य विश्लेषण अपनी ओर से दे दिया है। नियमों के वर्णन में भी कुछ अधिक विश्लेषण हमें उपलब्ध है। यद्यपि अपरिग्रह शब्द का यहाँ उल्लेख नहीं है, तो भी भावरूप से उपलब्ध है। परम्परागत योग-प्रणाली में यह एक महत्त्वपूर्ण योगदान है और सम्भवतः साधक को शब्द छल से बचाने के लिए सुस्पष्ट विवेचन किया गया है।

मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् में यद्यपि अष्टांग योग शब्द का प्रयोग किया है तो भी इसका विश्लेषण परम्परागत अष्टांग योग से भिन्न है। यहाँ पर चार यम दिये गये हैं और नौ नियम दिखाये हैं।<sup>16</sup> इस विवरण से एक बात स्पष्ट होती है कि यद्यपि परम्परागत शैली और इस उपनिषद् की शैली में कुछ भेद है, तथापि अधिक से अधिक मार्गदर्शन करने की भावना परिलक्षित है। योगचूडामणि उपनिषद् के अनुसार योग के छः अंग मान्य किये गये हैं। उसमें यम और नियम समाविष्ट नहीं है। योगतत्त्व उपनिषद् में चार प्रकार के योग बताये गये हैं।<sup>17</sup> हठयोग का वर्णन करते समय अष्टांग योग का क्रम मान्य किया है। यहाँ एक बात और कुछ नये रूप में दिखती है, इसके अनुसार आहार को मुख्य यम बताया गया है और अहिंसा को मुख्य नियम। चार आसन भी मुख्य रूप से बताये गये हैं—सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन (सिंह आसन) और भद्रासन। योगशिक्षा उपनिषद् में यद्यपि चार प्रकार के योग दिये गये हैं तथापि परम्परागत अष्टांग योग का वर्णन उपलब्ध नहीं है। परन्तु योग अभ्यास सम्बन्धी विविध आयाम विस्तृत रूप में उपलब्ध हैं। शांडिल्य उपनिषद् में परम्परागत अष्टांग योग का क्रम मान्य किया है। यहाँ पर भी दस प्रकार के यम और दस प्रकार के नियमों का उल्लेख है। एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्रत्याहार सम्बन्धी है। शांडिल्य उपनिषद् के अनुसार पाँच प्रकार के प्रत्याहार दिये गये हैं।<sup>18</sup> ध्यान सम्बन्धी चर्चा में सगुण और निर्गुण दो प्रकार के ध्यान बताये गये हैं।

उपर्युक्त अति संक्षिप्त वर्णन में हठयोग सम्बन्धी शाब्दिक मतभेद ही स्पष्ट रूप से दिखता है। वास्तव में मूल भावना सभी ग्रन्थकारों को मान्य है—ऐसा प्रतीत होता है। अपनी स्वतन्त्र शैली में विषय प्रतिपादित करते समय इस प्रकार के भेद दिखाई पड़ते हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण चर्चा साधक के विकास की दृष्टि से आहार-आचरण सम्बन्धी विस्तृत और स्पष्ट रूप से की गयी है। यदि ऐसा कहा जाय कि इन ग्रन्थों में विशद किये गये विषय आधुनिक जगत में प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपयोगी हैं तो अतिशयोक्ति न होगी।

हठयोग प्रदीपिका में “केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते” (१-२) कुछ इस प्रकार का वर्णन चौथे उपदेश में भी आया है (३ और ८)। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राजयोग की व्याख्या यहाँ पर उपलब्ध नहीं है। योगतत्त्व उपनिषद् में राजयोग का वर्णन बहुत ही संक्षिप्त रूप में उपलब्ध है।<sup>19</sup> विवेक और वैराग्य को सबसे ज्यादा महत्त्व प्रदान किया गया है। योगशिक्षा उपनिषद् में राजयोग का वर्णन इस प्रकार है—

योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसनिभम् ।

रजो वसति जन्तूनां देवी तत्त्वं समावृतम् ॥१३६॥

रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः ।

अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः ॥१३७॥

राजयोग शब्द का अधिक प्रचार सम्भवतः पतंजलि के योगसूत्रों पर स्वामी विवेकानन्द द्वारा लिखित भाष्य के बाद हुआ। योगसूत्रों को किस आधार पर उन्होंने राजयोग की संज्ञा दी, यह एक विवादास्पद विषय है। Yoga, the method of Re-integration—by Alain Daniclou नामक ग्रन्थ में नवम अध्याय में राजयोग का वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु प्रदत्त आधार विषय को कुछ अधिक ही उलझा देता है। सम्भवतः राजयोग शब्द राज शब्द के कारण कुछ भ्रम निर्माण करने में सफल हुआ है। परन्तु राजयोग का सही मर्म अप्राप्य है। ऐसा भी हो सकता है कि हठयोग की व्यवस्थित परम्परा के सामने राजयोग का शिथिल वर्णन टिकने में असमर्थ रहा हो और आचार्यों ने इसकी आवश्यकता न समझ कर उपेक्षा कर दी हो।

योगतत्त्व उपनिषद् में जो चार योग बताये हैं, उनमें मंत्रयोग सबसे प्रथम है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इसका वर्णन केवल दो श्लोकों में ही कर दिया गया है—





एतेषां लक्षणं ब्रह्मन् वक्ष्ये श्रुणु समासतः ।  
मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ॥२१॥  
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ।  
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः ॥२२॥

योगशिक्षा उपनिषद् में भी मंत्रयोग का वर्णन अति संक्षिप्त रूप में किया है।<sup>१३</sup> मंत्रयोग के एक रूप का नाम जपयोग के नाम से भी विकसित है। इसकी प्रशंसा मनुस्मृति में भी की गयी है।<sup>१३</sup> जप सम्बन्धी विस्तृत वर्णन अन्य साहित्य में भी उपलब्ध है। त्रिशखी-ब्राह्मण उपनिषद्, दर्शन उपनिषद्, वराह उपनिषद् और शांडिल्य उपनिषद् में जप को व्रत के रूप में मान्य किया है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात जप सम्बन्धी हमें यहाँ पर उपलब्ध है और वह है जपविधि सम्बन्धी साधक को दी गयी स्वतन्त्रता।<sup>१४</sup>

योगतत्त्व उपनिषद् में 'लययोग' का वर्णन इस प्रकार है—

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः ।

कुच्छस्तिष्ठन्स्वप्नभुञ्जन्ध्यायेन्निकलमीश्वरम् ॥२३॥

कुछ इसी प्रकार का वर्णन योगशिक्षा उपनिषद् में भी उपलब्ध है।<sup>१५</sup> हठयोग प्रदीपिका में नाद का वर्णन करते समय "लय" शब्द का उपयोग किया गया है जो सम्भवतः क्रिया का बोध कराता है।<sup>१५</sup>

धेरण्ड संहिता में लय योग का संदर्भ इस प्रकार है—

शम्भव्या चैव भ्रामर्या खेचर्या योनिमुद्रया ।

ध्यानम् नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा ॥७-५॥

नादबिन्दु उपनिषद् में विस्तार के साथ लययोग के क्रम और प्रभाव का वर्णन और विश्लेषण किया गया है। वास्तव में यह सब वर्णन नाद (ध्वनि) पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए किया गया है और साधक निरन्तर अभ्यास से सर्व प्रकार की चिन्ताओं से मुक्ति प्राप्त करता हुआ और सब प्रकार के प्रयत्नों से परे एक ऐसी अवस्था में आ जाता है जिसे चित्त की विलीनता कहा जाता है।<sup>१६</sup> निरन्तर एक ही ध्वनि अथवा एक ही प्रकार की आवाज पर ध्यान केन्द्रित करने पर शरीर के ऊपर सम्भवतः कुछ अद्भुत परिणाम होते हैं। चित्त की एकाग्रता की दृष्टि से क्रमबद्ध स्वर का आलम्बन स्वीकार करके उसे बाँधने का प्रयत्न किया गया है। चित्त की इस प्रकार की अवस्था लाने का प्रयत्न आधुनिक संगीत में भी प्रयोगात्मक रूप में विकसित हो रहा है। पेड़-पौधों पर और पशुओं पर एक विशेष प्रकार की संगीत लहरियों का प्रयोग कुछ वैज्ञानिकों ने आरम्भ किया है। जो परिणाम वनस्पति और पशुओं पर हो सकते हैं, उसी प्रकार के कुछ परिणाम अध्यात्म साधना में रत व्यक्ति पर भी अवश्य होते होंगे। इस प्रकार के शब्दों का प्रभाव योग के अन्य साहित्य में भी उपलब्ध है जो इस बात का संकेत है कि प्राचीन ऋषियों ने कुछ नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिये थे। स्वर-योग का यह भाग वैज्ञानिक दृष्टि से शोध का विषय है।

ज्ञान, कर्म और भक्ति योग श्रीमद्भगवद्गीता के साथ सर्वाधिक जुड़े हुए प्रचलित शब्द हैं। योग के सम्पूर्ण साहित्य में किसी न किसी रूप में इन शब्दों का उपयोग मिलता है। इस विषय पर अधिक विस्तार से विवेचन न करते हुए इतना ही कहा जा सकता है कि एक ही विषय के ये तीन आयाम हैं। अथवा किसी भी काम को पहले समझना और फिर श्रद्धा और भक्ति के साथ क्रियान्वित करना। भक्तियोग पर तो जितना लिखा जाय उतना ही कम है। भागवत धर्म में नवधाभक्ति का विस्तृत विश्लेषण हुआ है। भक्ति मार्ग का ही एक रूप पराभक्ति है। इन तीनों योग की विधाओं में वैराग्य भावना पर बहुत जोर दिया गया है। भारतीय सांस्कृतिक जीवन—बौद्ध, जैन और वैदिक परम्परा में वैराग्य भावना को विकसित करने का सदा आग्रह किया गया है। वस्तुतः वैराग्य भावना विकसित होते-होते साधकों को बहुत से अनुभव होने की परिस्थिति निर्मित हो जाती है। आधुनिक समाजशास्त्रियों ने भी वैराग्य भावना से मिलते-जुलते विचार प्रगट किये हैं। समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री<sup>१६</sup> भी कुछ हिचकते हुए संग्रह वृत्ति की ओर संकेत करते हैं। समाज में समान भावना प्रेषित करने की दृष्टि से अपरिग्रह और वैराग्य अतीव आवश्यक है। त्रिशखी ब्राह्मण उपनिषद् में ज्ञान और कर्म योग के विषय में विस्तृत विश्लेषण उपलब्ध है।<sup>१५</sup> जीवन की ये विधाएँ सामाजिक विषमताओं को कम करने में भी किसी दृष्टि तक सम्भवतः उपयुक्त मानी गई हैं। यदि ऐसा कहें तो अति-



शयोक्ति न होगी कि सम्भवतः सभी प्रकार की धार्मिक विधाओं में ज्ञान, भक्ति और कर्म का प्रभाव किसी न किसी रूप में मिलता है।

कुंडलिनीयोग, योग का सबसे अधिक प्रिय और आकर्षित करने वाला व विवादास्पद आयाम है। योगशास्त्र में कुंडलिनी शक्ति के अनेक नाम दिये गये हैं और इस पर विस्तृत साहित्य भी उपलब्ध है।<sup>20</sup> योग सम्बन्धी ग्रन्थों में कुंडलिनी के चक्र और पद्मदलों के बारे में भी शिवसंहिता—अध्याय ५; ध्यानबिन्दु उपनिषद्; शांडिल्य उपनिषद्; योग कुण्डलिनी उपनिषद्; सिद्ध सिद्धान्त पद्धति आदि विभिन्न ग्रन्थों में अलग-अलग वर्णन है।

★★★

## ध्यान-सम्प्रदाय, योग और जैन साधना

बीसवीं शताब्दी में विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मानव के अस्तित्व को टिकाने के लिए कुछ प्राचीन दार्शनिक परम्परायें और उन्हीं परम्पराओं से कुछ अंशों को सामने रखते हुए कुछ नये मत, मनन-चिन्तन तथा चर्चा के विषय हो रहे हैं। प्राचीन भारतीय परम्परा में मानव के सर्वांगीण विकास की ओर सदैव प्रयास किया जाता रहा है। भारत की दार्शनिक परम्परा और धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन की घनिष्ठता तथा एकरूपता को, पाश्चात्य दार्शनिक प्रणाली में निश्चय ही कोई विशिष्ट स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि भारतीय परम्परा में व्यावहारिक जीवन और जीवन में नित्य प्रति आने वाली समस्याओं के सम्बन्ध में गहनता के साथ विचार और विवेचन किया गया है। शरीर के भौतिक आयामों से परे हटकर, एक दूसरा भी ऐसा आयाम है जिसकी चर्चा सम्भवतः तार्किक भाषा में न उतारी जा सके। भारतीय परम्परा में वैदिक दर्शन के साथ-साथ जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन का भी विकास हुआ।\* तीनों दर्शनों का जीवन के व्यावहारिक दृष्टिकोण के साथ गहरा सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध, जीवन में—शरीर तथा शरीर से होने वाले शुभाशुभ कर्मों अथवा शरीर में उत्पन्न होने वाली इच्छाओं और उनसे होने वाले परिणामों (शरीर पर, बुद्धि पर और यदि मन की परिभाषा निश्चित हो तो उस पर भी) आदि से सम्बन्धित है। बीसवीं शताब्दी में कुछ अस्तित्ववादियों ने कुछ इसी प्रकार का चिन्तन करने का प्रयत्न किया है और मनोविश्लेषण के क्षेत्र में काम करने वाले कुछ विद्वानों ने भी इसी तरह का विवेचन करने का प्रयास किया है। सभी जगह हमें एक ही प्रयत्न इस सन्दर्भ में दिखाई देता है कि मानव को संसार में भौतिक सुख के साथ-साथ कुछ और भी चाहिए; जो उसकी प्राप्ति हेतु मार्ग दिखा सके, प्रेरणा दे सके। यद्यपि यह एक बहुत बड़ी आकांक्षा है और निश्चित परिणाम तक पहुँचने की सम्भावना न दिख रही हो तो भी विश्वास ऐसा दिख रहा है कि इस प्रयत्न के द्वारा मानव को कुछ उपलब्धि अवश्य होगी।

प्रस्तुत विवेचन में भारतीय दर्शन प्रणाली में से हमारे विवेचन का विषय योग का वह भाग होगा जहाँ शरीर के साथ कुछ प्रयोग करने की सुविधा है और उस प्रयोग के साथ अनुभव प्राप्त करने का आह्वान भी है। इसी प्रकार जैन-दर्शन में योग सम्बन्धी किये गये कार्यों में विशेष रूप से आचार्य हेमचन्द्र का योगशास्त्र और उसी से सम्बन्धित विवेचन ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचन्द्र और बौद्ध-दर्शन में 'जेन बुद्धिज्म' सम्बन्धी साहित्य का विवेचन किया जायेगा। इस विवेचन में तुलनात्मक दृष्टिकोण नहीं है। साथ ही किसी भी प्रणाली की आलोचना भी नहीं की गयी है। मानव जीवन के समस्यामूलक आयाम का जो प्रयास तीनों प्रणालियों में किया गया है उसी का विवेचन करने का एक प्रयास है। एक महत्वपूर्ण बात और भी है, कि जब तक मानव स्वयं अपनी समस्याओं के सम्बन्ध में गहनतम रूप से चिन्तन और तीव्रता के साथ अनुभूति न करे, दूसरे के दिखाये गये मार्ग, प्रारम्भ में उसे उपयोगी लग सकते हैं, परन्तु अन्ततोगत्वा वे मार्ग उसका साथ नहीं दे पाते। ऐसी भी सम्भावना है कि वे उसके लिए बोझ बन जायें। प्राचीनकाल से दार्शनिक पृष्ठभूमि पर जो मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं वे या तो व्यक्तिगत समझ के परिणाम हैं

\* हिन्दू, बौद्ध, जैन अथवा हिन्दू-जैन, हिन्दू-बौद्ध आदि का क्रमिक विवाद उठाना यहाँ अभिप्रेत नहीं है।





अथवा स्वार्थबुद्धि के कारण और प्रमाद के कारण भी हो सकते हैं। मानव स्वभाव की सरलता और स्वाभाविक जीवन तर्क पर नहीं, अन्धविश्वास पर भी नहीं, परन्तु श्रद्धा और विश्वास पर अवश्य ही आश्रित है। योग-मार्ग में चित्त में प्रसारित होने वाली वृत्तियों को समझने के लिए और उनसे मुक्ति प्राप्त करने के लिए मार्ग बताया गया है तथा अपने सही मार्ग को देखने और समझने के लिए संकेत किया गया है।<sup>२१</sup> योग का हेतु अन्तिम सूत्रों में पतञ्जलि ने स्वरूप-प्रतिष्ठा कहा है। इस स्वरूप-प्रतिष्ठा को समझने की यदि तीव्र आकांक्षा होगी तो यह बहुत सरल है और यदि अपना प्रयत्न भावनात्मक और क्षणिक वैराग्य से प्रभावित होगा, तो बहुत कठिन है। योग-सूत्रों में जो क्रमिक विकास हमें दिखता है उसके पीछे एक ऐसा प्रयत्न है जिसमें साधक सहज और स्वाभाविक अवस्था में रहता हुआ; सब प्रकार के सामाजिक अनुभवों से गुजरता हुआ भी अपने स्वरूप को जानने के लिए प्रयत्नशील रहता है। यद्यपि पतञ्जलि कुछ मार्गों की ओर संकेत करते हैं तथापि उन्हें इस बात की पूर्ण कल्पना है कि साधनावस्था में मशीन की तरह निश्चित मार्ग नहीं बताया जा सकता; मार्ग की ओर संकेत ही किया जा सकता है। चलने की प्रेरणा दी जा सकती है, परन्तु चलने के लिए जो प्रयत्न है वह स्वयं साधक को ही करना होगा। और इसीलिए सम्भवतः वे ऐसा कहते हैं कि आपकी जैसी इच्छा है आप वैसा करें।<sup>२२</sup> हठयोग के साहित्य में भी कुछ इसी प्रकार का विवेचन है।<sup>२३</sup> यहाँ इस बात का संकेत किया गया है कि जब तक साधक स्वयं क्रियारत नहीं होगा उसे किसी प्रकार का लाभ होने की सम्भावना नहीं है। वेश धारण करने से किसी भी प्रकार का मार्ग मिलने की सम्भावना नहीं है, लोगों में भ्रम अवश्य प्रसारित हो सकता है। 'विवेक मार्तण्ड' में बड़े कड़े शब्दों में साधक की तुलना 'गधे' के साथ की गयी है। यदि संकल्प स्पष्ट न हो तो धूल में जीवन व्यतीत करना अथवा ठण्डी और गर्मी से शरीर को कष्ट देना व्यर्थ है क्योंकि गधा हमेशा गर्मी-सर्दी सहन करता रहता है और धूल-मिट्टी से भी लथपथ रहता है। साधक यद्यपि इसी प्रकार का दिखता है तो भी उसका हेतु बड़ा स्पष्ट रहता है और जब तक हेतु स्पष्ट न रहे तब तक बाह्याडम्बर एक प्रकार का बन्धन ही रहता है।<sup>२४</sup> पतञ्जलि ने तो आसनों का वर्णन करते समय भी स्वयं अनुभव लेने के लिए प्रेरित किया है। उन्होंने शरीर को जैसी साधक की इच्छा हो वैसा रखने का संकेत किया है। इससे एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि साधना सामूहिक रूप से नहीं की जा सकती। कुछ साधक एकत्र रह सकते हैं, परन्तु अनुभूति व्यक्तिगत और मर्यादित रूप में ही होगी। दूसरे शब्दों में हम ऐसा कह सकते हैं कि साधक का जीवन आडम्बरहीन, निष्कपट, एक दृष्टिकोण को सामने रखते हुए जीने की आकांक्षा और अपने स्वरूप को समझने का विश्वास—यही योग का एक सहज स्वरूप है। जैन परम्परा में योगशास्त्र के रचयिता आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र के चौथे और पाँचवें प्रकाश में आसन और प्राणायाम का विस्तृत विश्लेषणात्मक वर्णन करते हैं। यदि इस ग्रन्थ को पाँचवें प्रकाश तक ही पढ़ा जाए तो जैन आचार्य के प्रति भ्रम हुए बगैर नहीं रहेगा। कुछ ऐसी भी सम्भावना साधक को दिखेगी कि जैन आचार्य या तो योगमार्ग से प्रभावित हैं या उसके प्रवर्तक हैं। परन्तु जब हम छोटे प्रकाश को देखते हैं तो हमें एक सौम्य झटका-सा लगता है।<sup>२५</sup> जिन आचार्यश्री ने आसन और प्राणायाम के विस्तृत विश्लेषण में इतना समय लगाया उन्हें इसकी अनावश्यकता के लिए यह श्लोक लिखने की आवश्यकता क्यों पड़ी? हेतु स्पष्ट दिखता है। यद्यपि जैन आचार्य योगमार्ग का संकेत करते हैं तो भी यह मार्ग बाधा स्वरूप है, इस बात का भी उन्हें पूर्णरूप से ध्यान है और इसीलिए साधकों को उन्होंने स्पष्ट संकेत दे दिया है। साधना-मार्ग में एक विस्तृत स्वरूप की स्वतन्त्रता देने के बाद वह स्वतन्त्रता उच्छृंखलता में परिवर्तित न हो जाए, ऐसी सावधानी हमें स्पष्ट रूप से परखनी होती है। आडम्बर और प्रमाद का भी यहाँ ध्यान रखना पड़ता है। जैन साधना पद्धति के परम्परागत रूप में टिके रहने का सम्भवतः यही कारण रहा होगा। मानव की सहज वृत्तियों को एक नियन्त्रित मार्ग-दर्शन इस जीवन प्रणाली में पग-पग पर दिखता है।

प्रस्तुत निबन्ध ध्यान-परम्परा को सम्मुख रखकर चिन्तन करने के लिए निश्चित किया गया है और ध्यान-परम्परा का सम्पूर्ण प्राचीन और आधुनिक साहित्य मानव की व्यक्तिगत अनुभूति को ही ध्यान में रखकर सृजित किया गया है। योग-परम्परा और जैन-परम्परा में भी कुछ आयाम इसी स्तर के प्राप्त होते हैं। जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया है, इस निबन्ध का हेतु न तो किसी मार्ग की आलोचना करना है और न किसी मार्ग की तुलना, वरन् तीनों प्रणालियों का हेतु मानव के सही स्वरूप को समझने के लिए सहायता करना है। इसी सन्दर्भ में थोड़ा सा उल्लेख हमने अस्तित्ववादी प्रयत्न और मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के सम्बन्ध में भी किया है।

जैन बुद्धिज्म के ऐतिहासिक विवेचन में न फँसकर जो कुछ उपलब्ध साहित्य है उसके तात्त्विक विवेचन

पर विचार करने का हमारा प्रयास रहेगा। अंग्रेजी में उपलब्ध साहित्य में लगभग सभी ग्रन्थों में विस्तृत ग्रन्थ सूची उपलब्ध है।<sup>१९</sup>

सुविधा के लिए हम 'जेन' शब्द का अनुवाद 'ध्यान' शब्द में करके मर्यादित स्वरूप में विवेचन करेंगे। ध्यान-साहित्य में कुछ विचित्र घोषणाएँ पढ़ने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए, *Sitting quietly, doing nothing*, अथवा ताली की आवाज एक हाथ से, अथवा बोटल में बन्द बतख को बोटल तोड़े बगैर बाहर निकालना अथवा मैं कुछ भी स्वीकार नहीं करता और कुछ निषेध भी नहीं। ध्यान मत के अनुसार 'कार्य को करना' कार्य को करना है— 'The Zen way of doing things is to do them.' 'Zen lives in facts, fades in abstractions and is hard to find in our noblest thought.' 'A sense of serenity, a sense of flow, and a sense of rightness in all action.' 'All that happens, happens right.' 'To the good I act with goodness; to the bad I also act with goodness.' Zen talks of quality of living and not standard of living.' Is-ness Now-ness One-ness.'

ध्यान सम्बन्धी सभी साहित्य और सभी प्रयत्नों में इस बात की ओर संकेत किया गया है कि तर्क और शब्दों में न तो धर्म को बाँधा और नापा जा सकता है और न ही जीवन को। प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक सभी अवस्थाओं का जीवन शब्दों से परे है, विवेचन से मुक्त है, सभी प्रकार के शाब्दिक जाल से मुक्त है, और जीवन की प्रत्येक घटना स्वीकार करने में ही मनुष्य की श्रेष्ठता दिखायी है। यदि हम अपने जीवन के कालक्रम में घटित होने वाली सभी घटनाओं का तार्किक दृष्टि से विवेचन करें तो बहुत जल्दी ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीवन की सभी गतिविधियों का विवेचन असम्भव है। स्वयं को भुलावा देने के लिए शाब्दिक जाल खड़ा कर सकते हैं, परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि जीवन को तार्किक जाल में बाँधा ही नहीं जा सकता। इस विधान से कुछ निराशाजनक ध्वनि परिलक्षित होती हो तो भी सच्ची बात से मुँह मोड़ना अपने आपको अँधेरे में रखना है। सृष्टि में होने वाली सभी घटनाएँ किसी एक ऐसे क्रम से बँधी हैं जिन पर हम कुछ निश्चित मात्रा तक ही मर्यादा रख सकते हैं। इस क्रम को यदि हम स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लें तो जीवन निराशावाद के स्थान पर विकासवाद की ओर निश्चित रूप से बढ़ेगा। ध्यान-सम्प्रदाय के लोग जब Is-ness की बात करते हैं, That-ness की बात करते हैं, घटनाओं के होने की स्वीकृति देते हैं, तो इसमें हमें मानव के बौद्धिक चिन्तन और स्थिरता का भास होता है। रहस्यवादी कवि और सूफी भी हमें इन्हीं मार्गों की ओर आकृष्ट करते हैं। दूसरे शब्दों में सुखी जीवन, शान्त जीवन और विकसित जीवन ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार, जीवन का भौतिक विकास नहीं, वरन् अभौतिक विकास है (अभौतिक का अर्थ, आध्यात्मिक, मानसिक, साधनामय या अन्य इसी प्रकार की प्रणालियाँ हो सकती हैं)।

ध्यान-सम्प्रदाय सम्बन्धी बहुत सारा साहित्य छोटी-छोटी आख्यानों अथवा कहानियों के द्वारा समाज के सामने प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिए एक छोटी सी कथा दो ऐसे साधुओं के लिए है जिन्हें प्रवास करने के लिए नदी के किनारे एक सुन्दर कन्या नदी पार करने में सहायता माँगते हुए दिखती है। दोनों भिक्षु एक-दूसरे की ओर देखते हैं और अचानक एक भिक्षु उस कन्या को उठा लेता है। नदी पार कर जाते हैं। दूसरा भिक्षु बहुत क्रुद्ध है और इसी अवस्था में प्रवास करते-करते आश्रम के पास पहुँचते समय दूसरा भिक्षु पहले भिक्षु से एक प्रश्न करता है कि उस कन्या को उठाते समय तुम्हें कैसा अनुभव हुआ था, तब पहले भिक्षु ने बहुत ही शान्त भाव से कहा—भते ! मैंने उस कन्या को नदी पार करने के बाद वहीं छोड़ दिया परन्तु तुम अभी तक उसे उठाये फिरते हो। इसी प्रकार मात्सु नामक शिष्य ने हुईजान नामक गुरु से पूछा—गुरुदेव ! ध्यान में बैठने का हेतु क्या है? हुईजान ने बड़े ही शान्त स्वभाव से उत्तर दिया—बुद्ध बनना। हुईजान चुपचाप उठा और एक पत्थर को घिसने लगा। मात्सु ने अपने गुरु से पूछा कि आप क्या कर रहे हैं? इस पर हुईजान ने इस प्रकार कहा, कि मैं इस पत्थर का दर्पण बना रहा हूँ। कभी पत्थर भी दर्पण बनाया जा सकता है? ऐसी शंका व्यक्त की गई। गुरु ने उत्तर दिया कि यदि ध्यान में बैठने से बुद्ध बना जा सकता है तो पत्थर को दर्पण में भी रूपान्तरित किया जा सकता है। इन दोनों कथाओं में जीवन के दो ऐसे आयाम प्रस्तुत किये गये हैं जिससे सहज जीवन और कृत्रिम जीवन का एक स्वरूप हमें दिखाया गया है। यदि मनो-विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखा जाय तो हमें ऐसा बताया जाता है कि हमें किसी भी कार्य को प्रत्यक्ष रूप में करना और उस करने की क्रिया का कालान्तर में चिन्तन या मनन करना, दो अलग-अलग स्वतन्त्र पक्ष हैं। कभी-कभी तो किसी क्रिया के करने के बाद उस क्रिया का शरीर और मन पर शायद उतना परिणाम न हो जितना विपरीत और हानिकारक परिणाम, उस क्रिया के चिन्तन-मनन से होने की सम्भावना है। ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार सहज जीवन की ओर संकेत मिलता है। किसी विशिष्ट समय पर घटी हुई घटनाओं का उतना प्रभाव नहीं होता जितना उन पर दीर्घ-कालीन चिन्तन-मनन का। उसी प्रकार प्रयत्न का आडम्बर और प्रयत्न की भावना की ओर संकेत किया गया है।



हुईजेन के जीवन से सम्बन्धित एक कथा का सारांश, दो छोटी गाथाओं में इस प्रकार है—

“शरीर बोधि वृक्ष के समान है,  
और मन स्वच्छ दर्पण के समान;  
हर क्षण हम उन्हें सावधानी से साफ करते रहते हैं,  
ताकि उन पर धूल न जम जाय।”

इस गाथा का उत्तर इस प्रकार दिया गया है—

“नहीं है बोधिवृक्ष के समान शरीर,  
और न कहीं चमक रहा है स्वच्छ दर्पण,  
तत्त्वतः सब कुछ शून्य है,  
धूल जमेगी कहाँ ?”

इन दोनों गाथाओं में एक तात्त्विक भेद को व्यावहारिक दृष्टि से दिखाने का प्रयत्न किया गया है। सामाजिक जीवन में हम बहुत ही योजनापूर्वक प्रयत्नशील जीवन की आकांक्षा करते हैं। परन्तु सामाजिक घटनाएँ (यदि दैवी परिस्थितियों का विचार थोड़ी देर के लिए अपने पक्ष के सम्बन्ध में ही समझ लिया जाय तो भी) कभी-कभी हमारे सिद्धान्तों और परिस्थितियों के विपरीत होती हैं और हम उनसे विचलित हो जाते हैं, ऐसी दुर्घटनाओं से बचने के लिए हम विभिन्न प्रकार के कवच तैयार करते हैं, संगठन बना लेते हैं और अन्य सुरक्षा के साधन भी खोजते रहते हैं। साधारणतः अनुभव अपने मन के विरुद्ध ही होता है। संसार एक ऐसी गति से जा रहा है जिसके नियन्त्रण के बारे में विचार करते समय बुद्धि को अपनी मर्यादाएँ माननी पड़ती हैं, तर्क काम नहीं करते और हम सिद्धान्तों और शब्दों का आश्रय ढूँढते हैं। ध्यान-सम्प्रदाय की मान्यता है कि यदि हम अपने अस्तित्व को समाज पर अथवा प्रकृति के निश्चित क्रम पर छोड़ दें तो हमारी तथाकथित व्याधियाँ, मानसिक क्लेश और इसी प्रकार के अन्य दुःख, अपने आप विलीन हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में ये सिद्धान्त जीवन की एक नयी-दृष्टि दिखाने का प्रयास करते हैं; जिसमें सहज-जीवन जीने की ओर संकेत है।

एक अन्य उदाहरण में हुईजेन ने कहा है—

“जो ईमानदारी से सच्चाई के मार्ग पर चलता है,  
वह दुनिया की गलतियों को नहीं देखता।  
यदि हम दूसरों के दोष देखते हैं,  
तो हम स्वयं भी गलत हैं।  
यदि दूसरे पुरुष गलती पर हैं तो उस पर हमें ध्यान नहीं देना चाहिए,  
क्योंकि दूसरों के दोष देखना हमारे लिए गलत है।  
दोष ढूँढने की आदत से पीछा छोड़ा कर,  
हम अपवित्रता के एक स्रोत को बन्द कर देते हैं,  
जब न घृणा और न प्रेम हमारे मन को विक्षुब्ध कर सकते हैं,  
तो हम गहरी शान्ति में सोते हैं।”

हुईजेन ने इन गाथाओं द्वारा हमें यह बताया है कि समाज में हमें अपना प्रतिबिम्ब दिखता है। यदि हम अच्छे हैं तो लोग हमारे साथ अच्छा व्यवहार करते हैं। दूसरे शब्दों में हम लोगों को उनके दोष दिखाकर अथवा उनकी निन्दा करके सुधार नहीं सकते। वास्तविकता तो यह है कि गुण और दोष का निर्णय करना भी बहुत कठिन है। ये दोनों शब्द सापेक्ष अर्थ रखते हैं और इसलिए यदि हम प्राप्त परिस्थिति को जिस स्वरूप में मिलती है, वैसे ही स्वीकार कर लें तो ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से शरीर पर होने वाले सूक्ष्म प्रभावों से हम बच सकते हैं। यहाँ पर यही अभिप्राय है कि जीवन के आदर्श निन्दा, आलोचना से परे हटकर वास्तविकता को स्वीकार करने में है।

ध्यान-साहित्य में बहुत सारी ऐसी छोटी-छोटी घटनाओं का वर्णन है जो दैनिक जीवन में होने वाली गति-विधियों से सम्बन्धित हैं। किसी साधक को खेत में काम करते समय एक विशेष प्रकार की घटना से कुछ बोध होता है। किसी को कुछ विशेष प्रकार की आवाज से ज्ञान प्राप्त हो जाता है। किसी समय गुरु थप्पड़ मार देता है और ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तर्क-बुद्धि से परे ऐसी बहुत सारी घटनाओं से ध्यान-साहित्य का भण्डार भरा पड़ा है। जिन घटनाओं का प्राचीन समय में लोगों ने उपयोग किया उसका प्रभाव आज क्यों नहीं हो पा रहा है? तत्कालीन सामाजिक

विषमता का वर्णन सौख्यान ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में किया है<sup>१३</sup>—“आधुनिक समय में मानव ने धर्म की अनुभूति को भुला दिया है। कुछ लोगों ने धर्म को दर्शनशास्त्र की कठोर तार्किक शब्दावली में ढालने का प्रयत्न किया है। धार्मिक वातावरण इस शैली में प्रस्थापित न होकर कुछ नई चीज खड़ी हो गयी है।” उनका कहना है कि हम आजकल आहार के स्वाद के विषय में बड़े जागरूक हैं। सभी प्रकार के शारीरिक सुखों के उपलब्ध हेतु के विषय में सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। काव्य और साहित्य आदि के रसास्वादन का भरपूर आनन्द लेना चाहते हैं। विज्ञान की परिभाषाएँ हम अच्छी तरह समझते हैं और नित्यप्रति घटित होने वाली घटनाओं के बारे में विश्लेषणात्मक चर्चा करते हैं। परन्तु जीवन का प्राकृतिक स्वरूप हम भूल गये हैं। अपने स्वयं के स्वभाव को भी हम भूल गये हैं। शरीर सुख से परे भी कुछ है; इस बात का विचार भी हमें नहीं आता और जिस प्रेम की हम बातें करते हैं वह प्रेम स्वार्थ भावना से भरा होता है, मजबूरियों से घिरा रहता है। ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार धार्मिकता का अर्थ जीवन की संवेदनशीलता है। संवेदनशीलता का अर्थ जीवन और समाज में होने वाली प्रत्येक घटना के प्रति एक सहज और निस्पृह दृष्टिकोण है। इसमें शाब्दिक छल नहीं है, तर्कशास्त्र का आधार भी नहीं है और दार्शनिक भ्रम भी नहीं है। जीवन एक सहज गति-विधि है और जीवन को जीने के लिए किसी विशेष आडम्बर की आवश्यकता नहीं है। तीव्र अनुभूति, स्वतन्त्र अभिव्यक्ति और सभी प्रकार की स्वीकृति ही जीवन का भाग है। जीवन में सभी जगह क्रियाएँ हैं। कहीं भी किसी प्रकार की प्रतिक्रिया उसमें नहीं दिखती। अस्तित्ववादी जर्मन दार्शनिक मार्टिन हेडगर्न ध्यान-सम्प्रदाय सम्बन्धी साहित्य को देखते ही अस्तित्ववादी सिद्धान्तों का समन्वय प्राप्त करता है। मनोविश्लेषणात्मक विद्वान कार्ल्युंग एरेकफ्राम और कार्रैनहोर्नी भी ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य में एक प्रकार की ऐसी प्रवृत्ति का आभास पाते हैं जिसे वे विकसित कर रहे हैं। उनके अनुसार “स्वयं को पूर्णरूपेण समझना और अपने मन की सर्वप्रकार की गतिविधियाँ सचेतन स्वरूप में अनुभव करना बहुत आवश्यक है।”<sup>१४</sup>

संक्षेप में विश्व के दार्शनिक जगत में मानव की मूल्यात्मक समस्याओं के बारे में अथवा जीवन मूल्यों की दृष्टि से जो विचार किया गया है, उसमें हम एक ऐसा संकेत पाते हैं कि जीवन बड़ा ही सरल है और दृष्टि स्पष्ट हो तो सुखद भी है। परन्तु दार्शनिक हथकंडों में मनुष्य किस प्रकार उलझ जाता है इसका अनुभव हर उस व्यक्ति को है जो शरीर से थोड़ा सा परे हटकर, द्रष्टा के रूप में स्वयं को देख सकता है। कितने आश्चर्य की बात है कि अलग-अलग दार्शनिक पृष्ठभूमि और सामाजिक अवस्था होने के बाद भी इन सभी दर्शनों में हमें एक अनूठा साम्य दिखता है। यह साम्य एक महत्वपूर्ण बात की ओर इंगित करता है। दूसरे शब्दों में इन साधना पद्धतियों में मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों को सामने रखकर हर प्रकार के आडम्बर से परे विचार और चिन्तनयुक्त जीवन व्यतीत करने को कहा है। इसीलिए जैन दार्शनिक Quality of living की बात करते हैं Standard of living की नहीं। Standard of living का हमें पूर्ण अनुभव है और उसका कोई अन्त नहीं। यह बात भी हमें स्पष्ट रूप से समझ में आ गयी है। Quality of living की ओर अब हमें गहराई से चिन्तन करना चाहिए।

★★★

## ध्यान : एक अनुचिन्तन

योग का आकर्षण अनादि काल से साधना में रत लोगों को रहा है। प्रस्तुत निबन्ध में ध्यान सम्बन्धी कुछ विचार योग की आधारभूत मान्यताओं को सम्मुख रखकर एक आयाम स्पष्ट करने का हेतु है। योग के नाम से कुछ प्रवाह बहुत ही प्रबल रूप से प्रचलित हुए। आसन और ध्यान ये दोनों प्रवाह समान रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। आसनों का विकास हठयोग के साहित्य के कारण बहुत ही विस्तृत रूप से हुआ और आधुनिक शरीर-शिक्षाशास्त्र के विकास के साथ-साथ तो आसनों के विशेषज्ञ भी तैयार हो गये। ध्यान का भी आकर्षण स्वभावतः कुछ कम नहीं है। परन्तु प्रक्रिया के रूप में उसका विकास हमें उपलब्ध नहीं है। अष्टांग योग की प्रक्रिया में ध्यान शब्द का क्रम सातवाँ है। ध्यान सम्बन्धी साहित्य बहुत कम मात्रा में उपलब्ध है। पतंजलि के योगसूत्रों में ध्यान का वर्णन एक सूत्र में ही किया गया है।<sup>१५</sup> हठयोग के साहित्य में आसनों के वर्णन में दो प्रकार के आसनों का वर्गीकरण है। उसमें बैठकर के किये जाने वाले आसनों को ध्यान-आसन के नाम से सम्बोधित किया गया है। योग परम्परा में कुण्डलिनियोग नाम से एक प्रवाह भी ध्यानयोग के साथ-साथ सम्बन्धित किया जाता है। ध्यान पर विचार करते समय बहुत सारे प्रश्न





उपस्थित होते हैं। पतंजलि ने धारणा, ध्यान और समाधि तीनों को एक सूत्र में संयम<sup>३०</sup> के नाम से सम्बोधित किया है। संयम शब्द से पतंजलि का अभिप्राय धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों अभिप्रेत है। भाष्यकारों ने संयम की परिभाषा नहीं की है; परन्तु इतना ही कहकर वे शान्त रह गये हैं कि संयम तान्त्रिकी विषय है। एक बात तो स्पष्ट होती है कि शास्त्रकार और भाष्यकार दोनों ही इस विषय को प्रतिपादित करते समय कुछ अड़चन अनुभव कर रहे हैं। अतएव निर्देश मात्र से ही उन्होंने सन्तोष मान लिया है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि अनुभव के विषय का वर्णन करते समय भाषा या शैली के भेद के कारण कुछ भ्रम होने की सम्भावना से सशंक होकर ही ध्यान सम्बन्धी वर्णन शास्त्रों में नहीं मिलता है।

संक्षेप में ध्यान को समझने के लिए शास्त्रीय दृष्टि से कम से कम धारणा को भी समझना बहुत आवश्यक होगा। अष्टांग योग की प्रक्रिया में धारणा का क्रम छठा है। साधारण बोलचाल की भाषा में भी हम कभी-कभी धारणा-ध्यान या ध्यान-धारणा की बात करते हैं। जिस प्रकार संयम में हम तीन अंगों का वर्णन करते हैं, साधारण भाषा में लोग दो अंगों की भाषा बोलते हैं। समाधि के बारे में बोलते समय लोग कुछ डर और संकोच का अनुभव करते हैं। ध्यान शब्द वैदिक साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र भी प्रयुक्त है। आधुनिक युग में जापान में जेन (zen) प्रवाह का आधार भी लोग ध्यान से जोड़ने का प्रयास करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के अनुसार ध्यान एक प्रदीर्घ प्रक्रिया है और उन्होंने बहुत ही स्पष्ट रूप के साथ इस प्रक्रिया का विश्लेषण सातवें और आठवें "प्रकाशों" में किया है। इसका बहुत सारा सम्बन्ध मन्त्रशास्त्र के साथ और हठयोग के अनुसार चक्रों की कल्पना के साथ मिलता-जुलता है। जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, कालांतर में कुण्डलिनीयोग भी स्वयं में यद्यपि एक शास्त्र बना तथापि उसका आधार धारणा और ध्यान ही रहा। योग-मार्ग की ओर आकृष्ट होने वाले व्यक्ति की ध्यान की ओर प्रवृत्ति होना एक स्वाभाविक क्रम माना जायेगा। और इस क्रम का अभिप्राय यह भी होगा कि धारणा, ध्यान आदि के पूर्व अंगों पर साधक का अपनी आवश्यकता और योग्यतानुसार अधिकार अभिप्रेत है। पतंजलि ध्यान की व्याख्या करते समय एक ही प्रत्यय को सदा बने रहने की बात कहते हैं। 'एकतानता' शब्द का व्यक्ति के जीवन के साथ-साथ उसकी वैचारिक परिपक्वता पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा है। 'प्रत्यय' शब्द के आधार पर एक विस्तृत शास्त्र निर्मित हुआ और ध्यान के नाम से भिन्न-भिन्न प्रवाह चल पड़े। यदि ध्यान सम्बन्धी प्रवाह या सम्प्रदाय मान्य न हो तो भी ध्यान के बहुत से आलम्बन प्रचलित हो गये। मन्त्र-पूजा, मूर्ति-पूजा और चक्रों की उपासना इस एक 'प्रत्यय' शब्द के द्वारा विकसित हुई है (विकृत हुई है)। आचार्य हेमचन्द्र ने बड़े विस्तृत रूप से इसका वर्णन किया है। हठयोग में भी इसका बड़ा विस्तृत रूप उपलब्ध है। योग के ग्रन्थों में स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्मध्यान का विवेचन है।<sup>३१</sup> योग तैत्तिरीयोपनिषद् में बारह धारणा मिलकर एक ध्यान बनता है। उसी प्रकार ध्यान के नौ स्थान भी मान्य किये गये हैं।<sup>३२</sup> आधुनिक युग में जो प्राचीन 'विपश्यना साधना' फिर से प्रयोग में आ रही है उसका भी सम्बन्ध अपने श्वास का ध्यान केन्द्रित करना है और इस ध्यान साधना का सम्बन्ध कुछ लोगों ने रोग-निवारण के साथ भी जोड़ दिया है। सूफी लोगों ने भी दरवेश नृत्य के नाम से ध्यान के प्रयोग प्रचलित किये हैं। इस समय पूरे विश्व में चर्चा, टीका और उत्सुकता का विषय 'ट्रान्सेन्डेण्टल मेडिटेशन' है। दिन में दो बार किसी एक निश्चित समय किसी एक निश्चित मन्त्र पर ध्यान करने के लिए लोगों को प्रेरणा दी गयी है। इस सम्बन्ध में विस्तृत रूप से जो प्रतिक्रियाएँ लोगों ने व्यक्त की हैं उससे एक बात तो बिलकुल स्पष्ट हो गयी है कि इस प्रक्रिया का शरीर पर कुछ प्रभाव हो रहा है और इस प्रभाव को जानने के लिए संगठनात्मक रूप में प्रयोगशालाओं में परिणामों की जाँच की जा रही है और लोगों का विश्वास है कि ये परिणाम आशादायक और उत्साहवर्धक हैं। भारत में कुछ अन्य लोग भी अपने-अपने रूप में ध्यान का प्रसार कर रहे हैं और इस प्रचार का सबसे बड़ा प्रमाण लोगों का ध्यान की ओर आकृष्ट होना है।

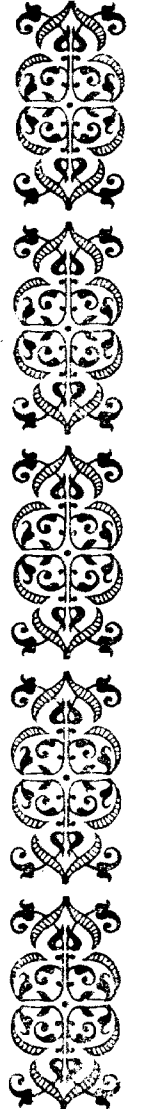
कुछ छोटे-छोटे प्रश्न ध्यान के सम्बन्ध में अनेक बार प्रस्तुत किये जाते हैं और विशिष्ट रूप से उत्तर न मिलने के कारण स्वाभाविक रूप से भ्रम पैदा होते हैं। उदाहरणार्थ, ध्यान करने का पात्र कौन है? कब ध्यान करना चाहिए? स्थान कैसा हो? समय कितना लगाना चाहिए? ध्यान किस पर करना चाहिए (मन्त्र, चक्र, इष्टदेवता, श्वास-प्रश्वास, शून्य, सहज इत्यादि)? ध्यान सीखा जा सकता है क्या? गुरु की आवश्यकता है क्या? गलत ध्यान से अनिष्ट होने की सम्भावना है क्या? ध्यान का किसी विशेष धर्म के साथ सम्बन्ध है क्या? इत्यादि अनेक छोटे-छोटे प्रश्न साधकों के मन में प्रायः उपस्थित रहते हैं और अनुत्तरित भी रहते हैं।

योगशास्त्र के अनुसार कषायों से मुक्ति ध्याता के लिए एक आवश्यक योग्यता बतायी गयी है। उसी प्रकार वायु की भाँति निसंग-अवस्था ध्यान के लिए बहुत आवश्यक बतायी गयी है। योगसूत्रों के भाष्यकार चित्तवृत्ति की एकाग्रता को ध्येय में रखकर ध्यान करने के लिए प्रेरित करते हैं। हठयोग में स्पष्ट रूप से प्राण-निरोध का संकेत किया गया है। दूसरे शब्दों में जब तक पवन-विजय या प्राण-निरोध नहीं होता तब तक चित्तवृत्तियों पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। हठयोग की प्रक्रिया एक निश्चित दृष्टिकोण को लेकर विकसित की गयी है और यद्यपि हठयोग की सभी मान्यताएँ समाज के सभी स्तर के लोगों को मान्य न हों तो भी कुछ निष्कर्ष मननीय हैं और हमारी यह मान्यता है कि कोई भी मत या लिंग या धर्म इन्हें स्वीकार करने के लिए कोई बाधा उपस्थित नहीं करेगा।

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ।  
 तयोर्विनष्ट एकास्मिस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥२२॥  
 मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ।  
 पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥२३॥  
 मनःस्थैर्येस्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत् ।  
 बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥२४॥  
 इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु माहृतः ।  
 माहृतस्य लयो नाथः स लयो नावमाश्रितः ॥२५॥<sup>३३</sup>

इन श्लोकों में प्राणशक्ति के नियन्त्रण की ओर संकेत है। श्वास की गति का हमारे भावनात्मक और संवेगात्मक जीवन के साथ सम्बन्ध है। प्रसन्न अवस्था, क्रोध, दुःख आदि के समय सबसे पहले परिणाम श्वासन-प्रक्रिया पर दीखता है। आधुनिक युग में जो तनावपूर्ण जीवन का वर्णन किया जाता है उसका विवरण श्वास-गति के साथ है। योग में जिस संयम का वर्णन किया जाता है उसका आरम्भ यम, नियम से होता है और यदि यम, नियम जीवन में आस्था ला सकें तो जीवन की बहुत-सी कठिनाइयाँ आने से पहले ही विलीन हो सकती हैं, और कुछ बची-खुची प्रक्रियाएँ आसन-प्राणायाम आदि के साथ समन्वयात्मक रूप में एक स्थिर जीवन प्रस्थापित करेंगी जिसका लक्ष्य प्रत्यय-एकतानता ही होगा। उसी जीवन में लक्ष्य होगा और वही जीवन सफल होगा और वही सफल जीवन अपनी सफलता के परिणाम-स्वरूप दूसरों के मार्ग प्रशस्त कर सकेगा क्योंकि उसका जीवन एक दृढ़ नैतिक आधार पर खड़ा रहेगा। अतः ध्यान की प्रक्रिया एक जंजीर में गुँथी हुई प्रक्रिया है और उस जंजीर से उसे अलग करना या देखना 'ध्यान' और 'स्वयं' दोनों पर अन्याय होगा। केवल व्यावहारिक सुविधा के लिए ही ये विचार यहाँ व्यक्त किये जा रहे हैं। ध्यान की सच्ची भावना के अनुसार ध्यान का प्रयोग करना चाहिए। चिन्तन, मनन और लेखन उसका एक अंग है और एक मर्यादित अंश तक ही उसका लाभ हो सकेगा। हमारी धारणा यह भी है कि एक निश्चित क्रमगत जीवन के बाद ध्यान करना नहीं पड़ेगा, ध्यान हो जायेगा। भगवान महावीर के जीवन में कुछ उस प्रकार की घटनाओं का वर्णन मिलता है, जहाँ वे किसी एक विशेष अवस्था में सहज स्वरूप में दीखते हैं। उस अवस्था को दिखाने के लिए उन्हें कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। परन्तु इस चरम अवस्था के पीछे उनकी सुदीर्घ साधना थी और यह अवस्था उसका परिणाम थी। इसी प्रकार का वर्णन गौतमबुद्ध और आधुनिक युग तक के इस मार्ग की ओर आकृष्ट अनेक सन्तों के जीवन में उपलब्ध है। हमारा अभिप्राय इस प्रक्रिया की ओर संकेत करना है कि ध्यान एक अवस्था है और वह होती है, लायी नहीं जा सकती। सम्भवतः इसीलिए शास्त्रकारों ने इस विषय में बहुत कम लिखना पसन्द किया। अनुभूतियों को शब्दों में बाँधने के बाद अर्थगत कठिनाइयों से बचने का हेतु स्पष्ट परिलक्षित होता है। साथ ही जिनकी इस विषय की ओर रुचि है, उन्हें प्रयत्न करने की प्रेरणा भी है।

क्या ध्यान को समाज के सर्वसाधारण स्तर तक ला सकते हैं? और क्या यह सर्वसाधारण के लिए सरल और उपयुक्त प्रक्रिया है? उत्तर बहुत सीधा और सरल है। समाज में रहने वाले ऐसे लोग जो गम्भीरता के साथ अपने जीवन के बारे में विचार करते हैं, जीवन का हित-अहित जिन्हें अभिप्रेत है और अधिकार व कर्तव्य, स्वार्थ और परार्थ, नीति-अनीति के विषय में यदि पूर्ण नहीं तो कुछ विचार करते हैं, उन्हें यह मार्ग अवश्य उपयोगी और परिणामकारक सिद्ध होगा। थोड़ी देर के लिए शास्त्रों का आधार न लेते हुए जीवन की गतिविधियों के सम्बन्ध में यदि हम विचार





कर सकें तो हमें ऐसा अनुभव आयेगा कि हर व्यक्ति कुछ न कुछ विचार अवश्य करता है। इस आवश्यक स्वरूप की ध्यान प्रक्रिया अवश्य मार्गदर्शक हो सकती है। मनोविज्ञान के आधुनिक रूप में शरीर की व्याधियों का सम्बन्ध मन के साथ जोड़ा जा रहा है और मन का सम्बन्ध व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ। दूसरे शब्दों में हर व्यक्ति के ऊपर स्वयं एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ खड़ा होता है और इस उत्तरदायित्व से निपटने के लिए स्वयं के जीवन की स्पष्ट कल्पना बहुत आवश्यक है। जीवन की स्पष्ट कल्पना आने के लिए जीवन का चित्र जब तक स्पष्ट रूप से सामने न होगा यश-अपयश की बात असम्भव है, और जीवन का स्पष्ट उद्देश्य जब तक मन शान्त न होगा, संकल्पना शक्ति कुछ काम न करेगी। हम रोज मन-शांति के उपाय लोगों से सुनते हैं। मन-शांति के लिए प्राचीन समय में लोग एकान्त गुफाओं की खोज में भागते थे। आधुनिक युग में अपने घरों को लोग वातानुकूलित और ध्वनि-नियन्त्रित कराने का प्रयत्न करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य उपकरण, सुगन्ध, संगीत आदि के रूप में भी प्रचलित हैं और लोगों को उनका आकर्षण भी है। परन्तु ये सभी बाहरी उपकरण एक मर्यादा तक ही उपयोगी हैं। महत्वपूर्ण वातावरण और परिस्थिति साधना करने वाले को स्वयं ढूँढ़ लानी होगी। अतः हमारी यह धारणा है कि ध्यान करने की जगह, समय, मन्त्र, गुरु आदि निश्चित रूप से उपयोगी हैं। परन्तु ध्याता सर्वोपरि महत्वपूर्ण अंग है और ध्यान करने वाले के शरीर और कार्य पर उसका परिणाम अवश्य होना ही चाहिए। अभिप्राय यह है कि जिस मन-शांति की बात या आकांक्षा लोग करते हैं उसकी आकांक्षा ध्यान द्वारा ही तीव्र होगी। ध्यान द्वारा ही हमारे शरीर की संवेदनशीलता बढ़ेगी और संवेदनशीलता के साथ-साथ सहनशीलता भी। ध्यान, किसी भी समय शरीर को किसी भी निश्चल अवस्था में अपनी इच्छानुसार एक मर्यादा तक स्थिर रखना होगा। सम्भवतः परम्पराओं से बँधे हुए लोगों को ध्यान की यह परिभाषा रुचिकर न लगे परन्तु परम्पराएँ और सुविधा समन्वयात्मक रूप में यदि साधक के जीवन में कुछ सुविधाएँ और प्रगति दे सके तो परम्पराएँ थोड़ी देर के लिए स्थगित करने में कोई हर्ज नहीं। कोई एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में दो-तीन घण्टे एकाग्रचित्त होकर यदि कोई प्रयोग कर रहा है और टाँग टूट जाने के कारण बिस्तरे पर पड़ा हुआ कोई रोगी यदि एक-दो घण्टे निश्चल रूप में एक विचार को पकड़कर लेटा रह सकता है और सड़क पर भीड़ में गाड़ी चलाने वाला दुर्घटना किये बिना सफल रूप से वाहन चलाने वाला और उसी प्रकार के अन्य उदाहरणों में जीवन में रस लेने वाला व्यक्ति ध्याता क्यों नहीं हो सकता? ध्यान करने के लिए या ध्यान की अवस्था लाने के लिए पद्मासन या अन्य आसन यदि किया तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु जिसे पद्मासन करना नहीं आता वह ध्यान नहीं कर सकता, यह अभिप्राय हम नहीं दे सकेंगे। क्योंकि ऐसी सम्भावना है कि पद्मासन करने वाला शायद अपने पैर या कमर की ओर ही अधिक ध्यान देगा और इसलिए यदि शरीर ही सुख-अवस्था में न हुआ तो शरीर के आगे ध्याता कहाँ जायेगा? हमारा तो अभिप्राय यह भी है कि लेटकर भी ध्यान किया जा सकेगा। लक्ष्य इतना ही रखना होगा कि ध्याता ध्यान में पहुँचना चाहता है अथवा सोना चाहता है। अभिप्राय, ध्यान की यदि कोई अवस्था है तो उसका पूर्णरूपेण आनन्द अनुभूति की शक्ति और सामर्थ्य एकाग्रता के रूप में एकत्रित हो सकनी चाहिए। अतएव हमें यहाँ दो सिद्धान्तों का प्रस्थापित होना दृष्टिगत होता है। सर्वप्रथम अष्टांग योग की प्रक्रिया में ध्यान का जो क्रम है उस क्रम की भावना शारीरिक और मानसिक दृष्टि से परिपक्वता है। इसके अनुसार शरीर को नियन्त्रित करने वाले प्राण का नियमन अभिप्रेत है और साथ ही ध्यान की ओर मन की तैयारी एक स्पष्ट और निश्चित क्रम है। अतएव पहला दृष्टिकोण परम्परागत प्रणाली में ही मान्य होकर स्वीकृत होगा। दूसरा आयाम उस विधि की ओर संकेत है जिसके अनुसार हम ध्याता को उसकी सुविधानुसार ध्यान करने का स्वातन्त्र्य दे रहे हैं। आधुनिक युग की मनोवैज्ञानिक खोज के साथ हम इस निर्णय पर तो अवश्य ही आते हैं कि यदि ध्यान आदि किसी प्रक्रिया का प्रयोग करना है तो शरीर में किसी प्रकार का संवेगात्मक तनाव नहीं होना चाहिए। क्योंकि संवेगात्मक तनाव का सबसे पहला प्रभाव श्वसन प्रक्रिया पर ही होता है। उसी प्रकार कभी-कभी अत्यन्त अद्विग्न अवस्था में भी श्वास की गति कम होती हुई पायी गयी है जिसे (Depression) की अवस्था के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह ध्यान नहीं है, यद्यपि श्वास की गति कम है। अभिप्राय श्वास की गति को हेतुपूर्वक नियन्त्रण में लाना है और हेतुपूर्वक नियन्त्रण में लायी गयी श्वसन प्रक्रिया के परिणामस्वरूप शरीर में प्रस्थापित हुई अवस्था ध्यान कहलायेगी। इस अवस्था में हम शरीर की शक्तियाँ कुछ भी व्यय नहीं कर रहे हैं वरन् जब कभी भी ध्यान की तथाकथित अवस्था समाप्त होगी तब एक अभूतपूर्व उत्साह, आनन्द और ताजगी का अनुभव होगा। यदि थकान का अनुभव होता है तो वह ध्यान नहीं होगा किन्तु उसका चित्र लिया जा सकेगा। लोगों को प्रभावित करने के लिए उसका वर्णन ध्यान के रूप



में लोग अवश्य कर देंगे। परन्तु इस प्रक्रिया में बहुत सारी शक्ति का अपव्यय हो चुका होगा और कालान्तर में इससे अरुचि होने की सम्भावना बहुत अधिक मात्रा में है। प्रारम्भ में हमने पतंजलि का उल्लेख किया है। आसनों का वर्णन पतंजलि ने “अनन्त समापत्ति”<sup>34</sup> कहा है। इसका अर्थ ऐसी अवस्था के साथ किया गया है जहाँ “प्रयत्न” का काम समाप्त हो गया है। क्रिया हो रही है, की नहीं जा रही है। क्रिया करने में शक्ति का उपयोग करना पड़ता है परन्तु होने में स्वाभाविक रूप से क्रिया होती है। हठयोग में भी एक ऐसी अवस्था का वर्णन है जहाँ पर चित्त विश्रान्ति का वर्णन है। सम्भवतः उनका भी हेतु शरीर की ऐसी अवस्था को प्राप्त करना है जिसमें शरीर के ऊपर किसी प्रकार का तनाव या बोझा न रहे। प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ तत्त्वानुशासन में बहुत ही विस्तृत रूप से ध्यान का वर्णन किया गया है। पूरे ग्रन्थ का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार होगा कि ध्याता सभी प्रकार के संयम और विधि-निषेध स्वयं निश्चित करे और उसके प्राप्त फलों को भोगने के लिए सब प्रकार की तैयारी उसकी स्वयं की होनी चाहिए। पूरे ग्रन्थ में विस्तृत रूप से इसका वर्णन किया गया है। एक अन्य प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ ज्ञानार्णव के अनुसार ध्यान और संयम एक-दूसरे के आधार बताये गये हैं। ध्यान का वर्णन बहुत ही विस्तृत रूप में किया गया है। परन्तु महत्वपूर्ण सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि जिसका शरीर पर अनिष्ट परिणाम हो उस वातावरण में नहीं रहना चाहिए। [सर्ग २६ और २७] इसी ग्रन्थ में अन्तिम सर्गों में बहुत ही विस्तार के साथ ध्यान के स्वरूप और फल का वर्णन किया गया है जिसका संक्षिप्त वर्णन उसी ग्रन्थ के आधार पर भिन्न-भिन्न परिणामों के रूप में वहाँ पर वर्णित है। ध्यान सम्बन्धी विस्तृत विश्लेषण का कारण धार्मिक चिन्तन करने वाले साधकों की सुविधा के लिए एक निश्चित मार्ग प्रदर्शित करने का हेतु है। आरम्भ में ही ध्यान के साथ धर्म का भी उल्लेख चित्त को स्थिर करने के लिए विशेष उल्लेखनीय है और ध्यान की ओर प्रवृत्त साधकों को कर्म-बिपाक से मुक्ति प्राप्त करने का आश्वासन भी आचार्यों ने दे दिया है।<sup>35</sup>

इस निबन्ध में भारतीय परम्परा का ध्यान सम्बन्धी एक संक्षिप्त विश्लेषण समन्वयात्मक रूप में करने का प्रयत्न किया गया है। प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्त और आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का उल्लेख करने का हेतु इतना ही है कि विचारशील मनुष्य के लिए ध्यान एक उपयोगी प्रक्रिया है। शास्त्रीय आधार से जरा परे हटकर हम यह कहने का दुस्साहस करते हैं कि जिनकी रुचि या भावना ध्यान में प्रविष्ट होने की होती हो उन्हें परम्पराओं का डर नहीं होना चाहिए। वास्तव में जरा से गहरे चिन्तन से हमें यह लक्षित होगा कि ध्यान-प्रक्रिया को ओर जाते हुए हम किसी मत, सिद्धान्त या धर्म का खण्डन नहीं कर रहे हैं। ध्यान-प्रक्रिया का धर्म, मत या सिद्धान्त के साथ सम्भवतः कोई भी सैद्धान्तिक भेद नहीं होगा। साधना-मार्ग की ओर चलने वाले साधक की यह एक स्वाभाविक अवस्था है। साधनाओं का स्वरूप असाम्प्रदायिक है, उसी प्रकार ध्यान का स्वरूप भी असाम्प्रदायिक है। यदि श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया पर हम ध्यान कर सकते हैं, और उसमें हमें आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती है तो इस प्रकार के ध्यान में सभी धर्मों के लोग एकत्र बैठ सकते हैं। उसी प्रकार कुण्डलिनियोग का उल्लेख किया गया है। भिन्न-भिन्न चक्रों का वर्णन बड़े ही मार्मिक रूप में हठयोग और तांत्रिक साहित्य में उपलब्ध है। अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार ध्यान का केन्द्र चुना जा सकता है और अवधि भी निश्चित की जा सकती है। इन सभी प्रयोगों में भी कोई धार्मिक भावना अड़चन उत्पन्न नहीं करती।

महत्वपूर्ण प्रश्न, शंकाएँ इस रूप में आयेंगी कि क्या हम ध्यान द्वारा स्वयं को सम्मोहित तो नहीं कर रहे हैं अथवा स्वयं को किसी एक विशेष प्रकार की आदत (conditioning) का शिकार तो नहीं बना रहे हैं? वस्तुतः इस प्रकार की शंकाओं का आधुनिक युग में सन्देहमय वातावरण के कारण उठना स्वाभाविक है। परन्तु यदि सचमुच में मानव व्यथित या दुःखी है और उसे स्वयं ही अपने द्वारा एक मार्ग मिलता हुआ दीखता है तो इसमें आपत्ति होने का कोई कारण नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम सम्मोहन आदि का प्रतिपादन कर रहे हैं। न ही किसी विशेष प्रकार की आदत का शिकार हमें मानव को बनाना है। परन्तु उसकी संवेदनशीलता का विकास करना बहुत आवश्यक है और ध्यान की अवस्था में जब शरीर का बहुत सारा कार्यकलाप स्थगित हो जायेगा तो शरीर की संवेदन-शीलता स्वाभाविक रूप में बढ़ने लगेगी। आधुनिक युग में भारत में और विदेशों में भी इस सम्बन्ध में बड़े व्यापक रूप पर प्रयोग और अन्वेषण किये जा रहे हैं। ऐसा भी देखने में आया है कि लोगों की रुचि इस ओर बढ़ रही है। अब प्रश्न यह होगा कि ध्यान को एक वैज्ञानिक रूप दिया जाय या सहज अवस्था में ही रहने दिया जाय। यह आने वाला समय बतायेगा।

★★★



## आसन-प्रयोग-विधि : एक चिन्तन

भारतीय संस्कृति में योग-परम्परा का एक विशिष्ट स्थान है। आध्यात्मिक अभ्यास मार्ग में शरीर को एक विशिष्ट अवस्था की आवश्यकता होती है और सम्भवतः इसीलिए प्राचीन काल में अध्यात्म-मार्गी साधकों ने शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करने के कुछ साधन खोज निकाले थे। स्थूल रूप से दिखायी देने वाला शरीर और उस शरीर पर नियन्त्रण करने वाली शक्तियाँ (प्राण, मन, कुण्डलिनी, आत्मा इत्यादि) अपने नियन्त्रण में हों, ऐसी सबकी इच्छा रहती है। इस नियन्त्रण ने ही योग परम्परा में आसन का महत्व प्रस्थापित किया है। ये आसन विभिन्न स्वरूप के हैं। कालान्तर में इनकी संख्या, समय, मर्यादा, अधिकारी आदि के विषय में मतभेद उठ खड़े हुए और इन मतभेदों ने योग में भिन्न-भिन्न परम्पराएँ खड़ी कर दीं। कहीं-कहीं तो यह मतभेद केवल शाब्दिक प्रतीत होता है। परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, यदि मनुष्य स्वभाव की विविधता को मान लिया जाय तो विविध मार्ग स्वीकार करने में हमें कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

आसन करने से शरीर पर दृश्य और कुछ अदृश्य रूप में प्रभाव पड़ते हैं। यह वर्णन भी योग सम्बन्धी पुस्तकों में विस्तार से पाया जाता है। आसनों की संख्या के सम्बन्ध में और आसनों की विधि के विषय में 'योग' के अन्तर्गत सबसे ज्यादा साहित्य उपलब्ध है।

योग-साहित्य में प्रमुख रूप से दो प्रकार की परम्पराओं का साहित्य उपलब्ध है। पतञ्जलि के 'योगसूत्र' की एक परम्परा है तो दूसरी परम्परा के साहित्य के रूप में, हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता, सिंह संहिता, योग याज्ञवल्क्य संहिता, भक्ति सागर और कुछ योग उपनिषद् हमें योग के सम्बन्ध में विस्तृत भूमिका उपलब्ध कराने में सहायक होते हैं। (योग उपनिषदों में मुख्य रूप से शाण्डिल्य उपनिषद्, योग कुण्डलिनी उपनिषद्, दर्शन उपनिषद्, त्रिशिखी ब्राह्मण उपनिषद् इत्यादि का उल्लेख है।) इन सभी ग्रन्थों में (पतञ्जलि के अतिरिक्त) भिन्न-भिन्न आसनों का वर्णन है और आसन करने की विधि और उनसे होने वाले लाभ आदि का विश्लेषण है।

सर्वप्रथम हम पतञ्जलि के मत का विवेचन करेंगे। योग-सूत्रों में अष्टांग योग का विवेचन करते समय आसन की परिभाषा पतञ्जलि ने 'स्थिरसुखमासनम्' (२-४६) की है। आगे के दो सूत्रों में पतञ्जलि ने आसनों से होने वाले लाभों को बताने का प्रयत्न किया है। आसनों से होने वाले लाभ एक व्यक्तिगत अनुभूति का विषय हैं और जैसा कि हमने ऊपर निर्दिष्ट किया है, ये अनुभूतियाँ स्वाभाविक रूप से व्यक्तिगत ही होंगी। उसके विषय में वैज्ञानिक संशोधन की आवश्यकता है। मुख्य विषय स्थिरसुख कहा है और स्थिरसुख की परिभाषा करना बड़ा कठिन है। पर स्थिर-सुख का अनुभव लेने में कोई अड़चन नहीं है। पतञ्जलि के ऊपर भाष्य लिखने वाले व्यास, वाचस्पति और भोज इस विषय पर मौन हैं। सम्भवतः स्थिरसुख की व्याख्या करना ये अनावश्यक समझते रहे होंगे अथवा स्थिरसुख की कल्पना लोगों के सामने रखने में उन्हें कुछ कठिनाई रही होगी। विज्ञान भिक्षुओं ने 'निश्चल' और 'सुखकर' शब्दों का उपयोग किया है परन्तु इन शब्दों से भी विषय कुछ स्पष्ट नहीं होता। अन्य सभी भाष्यकारों ने आसनों की संख्या गिनाकर ही सन्तोष प्राप्त कर लिया है। पतञ्जलि की परम्परा को सामने रखते हुए अष्टांग योग को एक महत्वपूर्ण स्थान देने के पश्चात् आसन सम्बन्धी इतने कम सूत्र उपलब्ध हैं कि उन सूत्रों के मनमाने अर्थ लगाने की सुविधा या मतभेद उत्पन्न करने की परिस्थिति, इच्छा न होते हुए भी निर्माण हो जाती है। सम्भवतः पतञ्जलि की भूमिका को देखते हुए और मन का स्वभाव, शरीर की अवस्था और परिस्थिति के अनुसार, हम जो चाहे अर्थ लगायें; इस तरह की बहुत बड़ी सुविधा हमें इन छोटे सूत्रों में उपलब्ध है। स्थिरसुख प्राप्त करने के लिए मार्ग का निर्देशन करते हुए, उससे प्राप्त होने वाले फल का निर्देश एक सूक्ष्म तथा गहन मनोवैज्ञानिक सुविधा है। इसमें पतञ्जलि के द्वारा चित्रित मानव स्वभाव की विविधता की मान्यता हमें दिखायी देती है।

आसनों की दृष्टि से, यदि हम पतञ्जलि के योगसूत्रों को अधिक सुविधाजनक न समझें तो हमें हठयोग के ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ता है। इन ग्रन्थों (हठयोग प्रदीपिका आदि) में विस्तृत व सुस्पष्ट मार्ग-दर्शन उपलब्ध है। हठयोग प्रदीपिका के पहले अध्याय के १७वें श्लोक में आसनों का वर्णन भी है और उनसे होने वाले लाभों का संकेत भी किया गया है—

“हठस्य प्रथमांगत्वावसनं पूर्वमुच्यते ।  
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यम् चांगलाघवम् ॥”

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार यम-नियम का भी उल्लेख है, तथापि आसन को ही उन्होंने प्रथम अंग माना है। आसन करने से स्थैर्य प्राप्त होता है। शरीर सुन्दर और निरोगी हो जाता है। हठयोग प्रदीपिका के टीकाकार ब्रह्मानन्द कहते हैं कि “आसन करने से शरीर को स्थिरता प्राप्त होती है और मन की चंचलता के ऊपर भी नियन्त्रण आ जाता है।” “आसनेन रजोहति” यहाँ पर थोड़ा सा रजोगुण और तमोगुण का सन्दर्भ भी प्राप्त है। ब्रह्मानन्द ने पतञ्जलि का एक सूत्र भी निर्दिष्ट किया है।<sup>३९</sup> आसनों का वर्णन करते समय विभिन्न प्रकार के आसन बताये गये हैं और उनसे होने वाले लाभ और करने की विधियाँ विस्तारपूर्वक हठयोग के इन ग्रन्थों में निर्दिष्ट हैं।

आसनों का वर्णन करते समय हठयोग प्रदीपिका में प्रथम अध्याय के बत्तीसवें श्लोक में<sup>४०</sup> कहा है कि शव आसन करने से थकान नष्ट होती है और चित्त को विश्रान्ति मिलती है। प्राचीन भाषा-शैली को ध्यान में रखते हुए हमें ऐसा अनुभव होता है कि शरीर की विश्रान्ति समझ सकना बहुत आसान है परन्तु चित्त विश्रान्ति एक समस्या है। चित्त-विश्रान्ति की चर्चा करने से पहले चित्त के सम्बन्ध में जब तक परिभाषा निश्चित न हो तब तक व्याख्या देना कहाँ तक उचित होगा, इस प्रश्न का निर्णय करना भी आवश्यक है। पतञ्जलि का योगशास्त्र चित्त, मन, बुद्धि आदि शब्दों का उपयोग करता है, परन्तु हठयोग में इन शब्दों का उपयोग विचारपूर्वक नहीं किया गया है, ऐसी शंका स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत होती है। आसन करने से विष भी पच जाता है, शरीर में सब प्रकार की व्याधियाँ अपने आप नष्ट हो जाती हैं।<sup>४१</sup> आधुनिक वैज्ञानिक शोधों द्वारा कुछ लोगों ने एक नये वैचारिक आयाम को प्रस्तुत किया है। जिसके अनुसार ‘योगिक-चिकित्सा’ नाम की नयी पद्धति समाज के सामने लाने का प्रयत्न किया जा रहा है।<sup>४२</sup>

स्थूल रूप से यदि देखा जाय तो अष्टांग योग में या हठयोग के कुछ ग्रन्थों के अनुसार षडांग योग में आसनों को सबसे अधिक महत्व इसलिए प्राप्त हो गया है कि हम आसन करते हैं या आसन किये जा सकते हैं, ऐसी प्रक्रिया हमें दिखती है।<sup>४३</sup> इसी आसन करने की प्रक्रिया ने आसन करने वाले को योगी, योगाभ्यासी, योगाचार्य आदि बना दिया है और जहाँ आसन सिखाये जाते हैं वे योगाश्रम बन गये हैं।<sup>४४</sup> इन आचार्यों ने अपनी-अपनी नयी परम्पराएँ प्रस्थापित करना आरम्भ कर दिया है। इस नये मोड़ ने, योग के नाम पर, एक व्यापारिक-वृत्ति की झलक दिखाना आरम्भ किया है। शोधकर्ताओं और जिज्ञासुओं को सावधानी की आवश्यकता है।<sup>४५</sup> इससे इस बात का भी निर्देश होता है कि हमें योग परम्परा तो मान्य है, पर इस परम्परा से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य पर स्वतः चिन्तन-मनन करने की प्रवृत्ति नहीं है, या पात्रता नहीं है। यदि परम्परा टिकाये रखनी है तो परम्परा का सही रूप भी सामने रखना होगा, यही युग का आह्वान है।<sup>४६</sup>

हठयोग प्रदीपिका में सिद्धासन को सबसे अधिक महत्व दिया गया है।<sup>४७</sup> इन श्लोकों में यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि सिद्धासन द्वारा ही सब प्रकार के मल-शोधन और अभ्यास प्राप्त होते हैं। एक स्थान पर तो यहाँ तक कहा है कि सिद्धासन के समान कोई दूसरा आसन ही नहीं है।<sup>४८</sup> यह इस बात की ओर संकेत करता है कि आसनों की संख्या के बारे में ग्रन्थकार विचारशील थे। कुछ लोगों ने आसनों के दो प्रकार ही बताये हैं। इनके अनुसार चार बैठकर और शेष खड़े होकर, पेट के बल एवं पीठ के बल किये जाते हैं। एक आसन सिर के बल खड़े होकर भी किया जाता है। यद्यपि ऐसा आभास होता है कि प्राचीन ग्रन्थों में आसनों का वर्गीकरण किया गया था और कुछ लोगों ने वर्गीकरण के आधार पर साहित्य लिखा हो, तथापि यह वर्गीकरण कृत्रिम ज्ञात होता है। क्योंकि योग-कुण्डली उपनिषद्<sup>४९</sup> में दो आसनों के ही दो प्रकार बताये गये हैं। उपनिषद्कार ने पद्मासन और वज्रासन इन दो आसनों के द्वारा ही योग-साधना की पूर्णता मानी है जबकि ‘शिव संहिता’ में<sup>५०</sup> कहा है कि कुल चौरासी आसन हैं। उनमें सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन और स्वस्तिकासन मुख्य हैं। इन आसनों का वर्णन<sup>५१</sup> करते समय ऐसा कहा गया है कि इन आसनों के करने से सर्व पापों से मुक्ति होती है, सब रोगों से मुक्ति प्राप्त होती है, सर्व प्रकार की शुद्धि और दुखों से मुक्ति होती है। आसनों की इसी प्रकार की सिद्धि हठयोग प्रदीपिका में भी कही गयी है। इससे हमें एक बात का संकेत मिलता है कि सम्भवतः प्राचीन आचार्य, अपनी शैली के अनुसार, अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने में समर्थ रहे हों; परन्तु आधुनिक युग में इन आसनों का महत्व समझाने में हमें कुछ अड़चनें आती हैं। आसनों का वर्णन करते हुए, एक स्थान पर यह बात बिलकुल स्पष्ट कर दी है कि वेश-भूषा धारण करने से या चर्चा और शास्त्रार्थ से



योग की सिद्धि नहीं होगी जब तक कि क्रियारूप प्रत्यक्ष अंगीकार न किया जाय। संकेत इस बात का है कि प्राचीन काल से ही योग परम्परा में 'स्व' अनुभूति की ओर विशेष लक्ष्य केन्द्रित कराया गया था। इसी उत्साह में एक उपनिषद्कार ने तो यहाँ तक कह दिया कि "जिसने आसन विजय कर ली उसने तीनों लोकों को जीत लिया।"<sup>४९</sup>

अष्टांग योग में आसन को सबसे अधिक महत्व प्राप्त होने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि हेतु-अहेतु सहज रूप से लोग आसन करने लगते हैं। कई बार तो ऐसा भी अनुभव में आया है कि आसनों के सम्बन्ध में जो विधि-निषेध दिये गये हैं, उनका ज्ञान न होते हुए भी लोग भावनावश आसन किया करते हैं और उसका कुछ न कुछ परिणाम, यद्यपि शरीर के लिए उपयोगी ही होता है, तथापि कभी-कभी कुछ अनिष्ट की सम्भावना रहती है। योग ग्रन्थों में कुछ संदिग्ध चर्चा इस सम्बन्ध में उपलब्ध है। हठयोग-प्रदीपिका में<sup>५०</sup> नाड़ी शुद्धि का उल्लेख है। अन्यत्र ग्रन्थों में भी इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।<sup>५१</sup> स्वामी कुवलयाणन्द लिखित ग्रन्थ में आसनों के दो लाभ बताये हैं।<sup>५२</sup> पहला, शरीर को पूर्णतया शक्ति प्रदान करना और दूसरा, मेरुदण्ड को सक्रिय करके बुद्धि और कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करना। जहाँ तक पहले विषय का सम्बन्ध है स्थूल शरीर पर होने वाले प्रभावों को आजकल मनोविज्ञान की प्रयोगशालाओं में लोगों ने सिद्ध करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया है। परन्तु कुण्डलिनी शक्ति और बुद्धि पर होने वाले प्रभाव किस तरह कार्य करते हैं और क्यों करते हैं यह एक रहस्य है। शरीर-शास्त्र को जितना अधिक हम समझेंगे उतना ही प्रस्तुत रहस्य का सुलझता हुआ स्वरूप हमारे समक्ष आने की सम्भावना है। आधुनिक शरीर-विज्ञान की प्रगति और वैज्ञानिक संशोधन और प्राचीन ग्रन्थों में शरीर सम्बन्धी किये गये वर्णन और शरीर पर होने वाले प्रभाव इस बात का संकेत करते हैं कि प्राचीन आचार्य शरीर विज्ञान के कुछ आयामों से अवश्य ही परिचित थे। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम एक समन्वयात्मक दृष्टि से चिंतन भी करें और वैज्ञानिक अनुसन्धान भी। ये आसन जैसे दिखते हैं, उससे कहीं अधिक विशिष्टता लिये हुए हैं और योग साहित्य में उनका वर्णन कुछ ऐसी भाषा में किया गया है, जो आधुनिक समय में या तो रहस्य माना जाय या वैचारिक क्लिष्टता। असंदिग्ध स्वरूप से उसका वर्णन करना बहुत आवश्यक है।

जैसा कि हमने ऊपर की पंक्तियों में लिखा है कि आसनों को कुछ व्यक्तियों ने व्यायाम का ही एक प्रकार मान लिया है और विशाल साहित्य भी इस दृष्टि से सर्जन किया है। शारीरिक शिक्षा के सम्बन्ध में हम अधिक विस्तार में न जाकर इतना ही निवेदन करना चाहेंगे कि "यद्यपि आसन करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर पर कुछ प्रयोग हो रहे हैं, तो भी वस्तुस्थिति यह है कि स्थूल शरीर के साथ लगी हुई ग्रन्थियों और उन ग्रन्थियों के शरीर पर होने वाले परिणाम, उनका मस्तिष्क पर चित्त या मन पर भी होने वाला प्रभाव अभिप्रेत है। इसलिए अष्टांग योग क्रम में आसनों को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उसका एक निश्चित उद्देश्य सामने रखा गया है। यह बात जब शारीरिक शिक्षा के साथ आसन मिला दिये जायेंगे तो आ पायेगी या नहीं ऐसा कह सकना कठिन है। इससे किस प्रकार के लाभ लोगों को मिल सकेंगे, यह भी एक विवाद का विषय है।"

योग साहित्य में प्राणायाम करने से पहले आसन दृढ़ होना चाहिए ऐसा निर्देश है।<sup>५३</sup> अतः आसन कितने समय तक करना ? कितने आसन करने ? और किस हेतु से आसन करने ? यह विषय अपने आप स्पष्ट हो जाता है। हठयोग-प्रदीपिका में<sup>५४</sup> ऐसा उल्लेख है कि युवा, वृद्ध और दुर्बल कोई भी योगाभ्यास कर सकता है। वहाँ इस बात का निर्देश भी है कि अभ्यास करने की जिज्ञासा होना आवश्यक है और शरीर की आवश्यकतानुसार जैसे हम आहार करते हैं, उसी प्रकार शरीर की आवश्यकतानुसार आसनों का अभ्यास करना भी अभिप्रेत होगा। इसलिए योगशास्त्र में गुरु के महत्व को स्पष्ट किया है और गुरु के ही मार्ग-दर्शन में अभ्यास करने का संकेत किया है।<sup>५५</sup> उदाहरण के लिए, कोई साधक पहले दिन ही पद्मासन में पन्द्रह-बीस मिनट सुविधापूर्वक बैठ सकेगा और दूसरा सम्भवतः पन्द्रह-बीस दिन बाद भी इस आसन में न बैठ सके। इसलिए आसन-जय की कल्पना का अर्थ हम पतञ्जलि के स्थिरसुख शब्द से अच्छी तरह समझ सकते हैं। इन दो शब्दों ने योग की सर्व प्रकार की व्यापकता को मान्य कर लिया है और उसके साथ-साथ साधक को पूर्ण स्वतन्त्रता भी दे दी है। शरीर-शास्त्र के शोधकर्ताओं के लिए योगशास्त्र का यह एक आह्वान है, "शरीर की अवस्था सुखकर है या नहीं इसका अनुसन्धान कुछ व्यक्तियों ने करना आरम्भ किया है। परन्तु योग सम्बन्धी साहित्य को सामने रखकर इस दृष्टि से व्यक्ति-निरपेक्ष निरीक्षण की आवश्यकता है।"

आसन करते समय योगाचार्यों ने आहार सम्बन्धी जो संकेत दिये हैं<sup>५६</sup> उनसे केवल इस बात का संकेत

मिलता है कि आहार का शरीर पर विपरीत परिणाम न हो, ऐसी दक्षता रखनी चाहिए। आधुनिक युग में भी अल्पाहार, फलाहार, दुग्धाहार, आदि की चर्चा हमें प्राप्त होती है। शारीरिक श्रम करने वाले का आहार और बौद्धिक कार्य करने वालों का आहार पृथक्-पृथक् बताया गया है। स्वाभाविक है कि योगाभ्यास करने वाले का आहार भी एक विशिष्ट प्रकार का ही होना चाहिए। सम्भवतः तात्पर्य यह रहा होगा कि योगाभ्यास की प्रक्रिया में जब शरीर में अन्दर ही अन्दर कुछ प्रयोग हो रहे हैं तो आहार की दृष्टि से संयत आहार होना बहुत आवश्यक है जिससे खाये हुए पदार्थों को पचाने में शरीर को विशेष श्रम न करना पड़े। साथ ही शरीर को अधिक से अधिक कार्यक्षम भी बनाया जा सके। शास्त्रकारों के शब्दों में जो 'संदिग्धता' दिखती है उसका हेतु यदि हम समझने का प्रयत्न करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा। यहाँ पर भी ऊपर निर्दिष्ट आसन-जय की कल्पना या स्थिरसुख की कल्पना दुहराई गयी ज्ञात होती है। आहार से किसी प्रकार की उत्तेजना न हो इतना ही संकेत दिया है और इस संकेत से इस बात का बोध होता है कि योगमार्ग में साधकों को वैचारिक स्वतन्त्रता अभिप्रेत है। अपने शरीर की आवश्यकता समझना और उसके अनुसार आहार ग्रहण करना ही अभिप्रेत है।

आहार के साथ ही साथ थोड़ा-सा वर्णन दैनिक दिनचर्या सम्बन्धी भी इंगित है। इसमें इस बात का संकेत मिलता है कि शरीर को ज्यादा क्लेश नहीं देना चाहिए और योगाभ्यास करने का स्थान एकान्त में होना चाहिए। कुछ लोग यह शंका उठा सकते हैं कि आधुनिक व्यस्त जीवन में निर्दिष्ट मर्यादाओं का पालन करना असम्भव है। किन्तु साधारण सी बात है कि किसी भी कार्य के लिए कुछ न कुछ पथ्यों का पालन करना ही पड़ता है। इन्हीं पथ्यों में यदि हम योग की मर्यादाओं को मान्य कर लें, तो कोई आपत्ति न होगी। सभी संकेत जीवन की मर्यादाओं को सामने रखकर दिये गये थे। यदि छात्रावास में रहने वाला विद्यार्थी अपने कमरे में एकान्त व शान्त वातावरण बना सकता है और शरीर पर थोड़ा संयम रख सकता है तो योगाभ्यास करने वाला साधक एकान्त क्यों नहीं बना सकता ?

योगशास्त्रों के अनुसार साधकों को एकान्त में तो रहना ही चाहिए परन्तु अपनी साधना की चर्चा भी इधर-उधर नहीं करनी चाहिए।<sup>19</sup> विशेषतः आसन-प्राणायाम करते समय मन में हीन भावना आने की सम्भावना है या अहंकार को आश्रय मिलने की भी। यदि साधक को कोई आसन करना न आ रहा हो तो सहयोगी उसे निराश कर सकते हैं। इसके विपरीत यदि कोई भलीभाँति अच्छी तरह आसन कर पा रहा हो, तो उसे लोग योगी कहना आरम्भ कर देते हैं। दोनों अवस्थायें साधकों के लिए अहितकर हैं। यहाँ एक बात और स्पष्ट दिखायी देती है कि आजकल भारत और विदेशों में भी; सामूहिक आसनों के प्रशिक्षण वर्ग चलाये जा रहे हैं और वहाँ पर आसन तथा प्राणायाम शारीरिक शिक्षा के स्तर पर ही सामूहिक रूप से किये जाते हैं। आधुनिक युग की समस्याओं को देखते हुए, कुछ लोगों का एकत्र बैठकर आसन करना हानिकारक नहीं। परन्तु एक-दूसरे के साथ तुलना करना या सभी आसन करने वालों में एकरूपता लाने का प्रयास करना, आसनों की मुख्य भूमिका के साथ अन्याय है। वास्तव में सभी साधनायें व्यक्तिगत साधनायें होती हैं और उन व्यक्तिगत साधनाओं में थोड़ा सा साम्य देखने के बाद, वहीं तक ही सीमित रह जाना चाहिए। जब बहुत सारे लोग एक साथ मिलकर साधनारत होंगे या शारीरिक विकास की दृष्टि से भी प्रयत्नशील होंगे तो एक-दूसरे से प्रेरणा लेने तक ही सीमित रखना महत्वपूर्ण होगा।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के चतुर्थ प्रकाश में बहुत सारे आसनों का वर्णन करने के पश्चात् ऐसा कहा है कि साधक जिस अवस्था में मन को स्थिर पा सकें उसी को अपना लें।<sup>20</sup> यहाँ यह बात स्पष्ट होती है कि आसनों का अभ्यास करते समय शरीर पर किसी भी प्रकार का विपरीत प्रभाव न पड़े और मन सदा प्रसन्न रहे। इसका अभिप्राय यही है कि अभ्यास करते समय शरीर के ऊपर किसी भी प्रकार का अन्याय न हो। इस ओर विचारपूर्वक ध्यान देना होगा। पतञ्जलि का वर्णन करते समय स्थिर-सुख के विस्तार में जो अड़चनें आयीं सम्भवतः उसी प्रकार की कुछ अवस्था आचार्य हेमचन्द्र की भी रही हो। ये अड़चनें सम्भवतः उन आचार्यों को न रही होंगी। परन्तु कालान्तर में परम्परा का लोप हो जाने के बाद, ये शाब्दिक अड़चनें हमें कुछ समय के लिए आभास मात्र दिखाई देती हैं। परन्तु यदि शरीर शुद्ध और संवेदनशील हो तो इस अड़चन का आभास भी अपने आप क्षीण हो जाता है। दूसरे शब्दों में सूत्र और श्लोकों की भाषा एक निश्चित परम्परा की ओर संकेत देती है और उस संकेत का अर्थ भी व्यक्तिगत अनुभव ही होगा।

★★★



सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल

- १ युक्ताहार विहारस्य योगो भवति दुःखहा ।
- २ शिव संहिता ५-१८-३१ ।
- ३ प० यो० सू० ३-२२ ।
- ४ Spiritual Community Guide (for North America only)
- ५ हठयोग-प्रदीपिका १-५६ और ५७ ।
- ६ घेरण्ड संहिता १-१० ।
- ७ अमृतनाद उपनिषद् ६ ।
- ८ मंडल ब्राह्मण उपनिषद् १-३-४ ।
- ९ योगतत्त्व उपनिषद् १६ ।
- १० शांडिल्य उपनिषद्—अष्टम खण्ड ।
- ११ योगतत्त्व उपनिषद् १२६-३० ।
- १२ योगशिक्षा उपनिषद् १३०-३१ ।
- १३ मनुस्मृति २-५-८६ ।
- १४ दर्शन उपनिषद् २-१२ से १६ तक ; शांडिल्य उपनिषद् २-१० ।
- १५ योगशिक्षा उपनिषद् १३४-३५ ।
- १६ हठयोग प्रदीपिका ४-२६ ।
- १७ नादबिन्दु उपनिषद् ३१ से ४१ तक ।
- १८ महात्मा गान्धी, मैस्लो, सुरोकिन ।
- १९ विशिष्ट ब्राह्मण उपनिषद् २३ से २७ तक ।
- २० शक्तिपात, स्वामी विष्णुतीर्थ; देवात्मशक्ति, Mysterious Kundalini.
- २१ पतञ्जलि योगसूत्र १—२, ३—४, १२, ३३, २—३, १५, २८, ४६, ४७, ४—२६, ३०, ३४ ।
- २२ पतञ्जलि योगसूत्र १—३६ ।
- २३ हठयोग प्रदीपिका १—६६ ।
- २४ विवेकमार्तण्ड ।
- २५ योगशास्त्र—षष्ठ प्रकाश ४, ५ ।
- २६ (i) *The Way of Zen*—A. Watts.  
(ii) *Zen Buddhism*—C. Humphreys.  
(iii) *The World of Zen*—N. W. Ross.  
(iv) *Chan and Zen Teaching (First and Second Series)*—C. Luk.  
(v) *A Buddhist Bible*—D. Goddard.  
(vi) *Zen Flesh & Zen Bones*—P. Reps.  
(vii) *Zen Buddhism & Psycho-analysis*—E. Fromm, D. T. Suzuki & R. Martino.  
(viii) *Studies in Zen*—D. T. Suzuki.  
(ix) *Essays in Zen Buddhism*—D. T. Suzuki.  
(x) ध्यान सम्प्रदाय—डॉ. भरतसिंह उपाध्याय ।
- २७ *The World of Zen*—N. W. Ross, p. 33.
- २८ *The World of Zen*—N. W. Ross, p. 5, 197, 332.
- २९ “तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।”—प. यो. सू. ३-२ ।
- ३० “त्रयमेकत्र संयमः ।”—प. यो. सू. ३-४ ।
- ३१ घेरण्ड संहिता ।

- ३२ गुदं मेढूं च नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः ।  
घण्टिका लम्बिकास्थानं भ्रूमध्यं च तभोविलम् ।  
कथितानि नवंतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः ॥—अ. यो. सि. ७-१३ ।
- ३३ हठयोग प्रदीपिका ४ ।
- ३४ पतञ्जलि योग सूत्र २-४७ ।
- ३५ ज्ञानार्णव ४१-४ ।
- ३६ पतञ्जलि योगसूत्र १-३० ।
- ३७ हठयोग प्रदीपिका १-३२ ।
- ३८ घेरण्ड संहिता २-१६ ।
- ३९ (क) योगिक धेरेपि, कैवल्यधाम, लोनेवाला, १९७१ ।  
(ख) योगिक धेरेपि—स्वामी शिवानन्द सरस्वती, उमांचल योग आश्रम, कामाख्या (असम) ।
- ४० साइन्स स्टुडेयुग १९७५ लेखक डॉ. चिन्ना और डॉ. बलदेव सिंह ।
- ४१ क्रम्बेलकर और घरोटे लिखित योग-मीमांसा १९६६ ।
- ४२ इण्डियन जर्नल ऑफ मेडिकल रिसर्च १९६१, लेखक डॉ. आनन्द, डॉ. चिन्ना ।
- ४३ योगा टुडे, योगा इन मेडिसिन, प्रकाशक : मेकमिलन एण्ड कम्पनी १९७१ संकलन: डॉ. जयदेव योगीन्द्र ।
- ४४ हठयोग प्रदीपिका १-३८, ३९ ।
- ४५ हठयोग प्रदीपिका १-४३ ।
- ४६ योगकुण्डली उपनिषद् १०४ ।
- ४७ शिव संहिता ३-६८ ।
- ४८ शिव संहिता ६६-११७ ।
- ४९ त्रिशिखी ब्राह्मण उपनिषद् १-५२ ।
- ५० हठयोग प्रदीपिका १-५६ ।
- ५१ घेरण्ड संहिता ५-३६, हठयोग प्रदीपिका २-७७ और श्वेताश्वेतर उपनिषद् २-१२, १३ ।
- ५२ आसन : स्वामी कुवलयाणन्द, १३१ ।
- ५३ हठयोग प्रदीपिका २-१; योगसूत्र २-४७ ।
- ५४ हठयोग प्रदीपिका १-६४ ।
- ५५ हठयोग प्रदीपिका १-१४ ।
- ५६ हठयोग प्रदीपिका १-६२, ६३; घेरण्ड संहिता ५—१६ से ३२ ।
- ५७ हठयोग प्रदीपिका १-११ ।
- ५८ योगशास्त्र ४-१३४ और ज्ञानार्णव २८-११ ।

★★★

